ह्रीः

दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थ शोध पत्रिका

Journal of Rare Buddhist Texts Research Unit

42

दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थ शोध अनुभाग
केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान
सारनाथ, वाराणसी
2006

धीः

दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थ शोध पत्रिका

42

सम्पादक

डवङ् समतेन
निदेशक

एस० एस० बहुलकर
प्रधान सम्पादक



दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थ शोध अनुभाग
केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान
सारनाथ, वाराणसी

बुद्धाब्द २५५० | कार्तिक पूर्णिमा | खीस्ताब्द २००६

सहायक-मण्डल

ठाकुरसेन नेगी
ठिनलेराम शाशनी
छेरिंग डोलकर
विजयराज वज्राचार्य
बनारसी लाल
छोग दोर्जे
रंजन कुमार शर्मा

४२वाँ अंक, ५५० प्रतियाँ, २००६

मूल्य : रु० ९५.००

© केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ, वाराणसी, २००६

प्रकाशक :

केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान,
सारनाथ, वाराणसी-२२१ ००७

मुद्रक :

सुरभि प्रिन्टर्स
सी० २७/२७३, इण्डियन प्रेस कालोनी
मलदहिया, वाराणसी-२२१ ००२

Dhīḥ

Journal of Rare Buddhist Texts Research Unit

42

Editors

NGAWANG SAMTEN
Director

S. S. BAHULKAR
Chief Editor



RARE BUDDHIST TEXTS RESEARCH UNIT
Central Institute of Higher Tibetan Studies
Sarnath, Varanasi

B.E. 2550 KĀRTIKA PŪRṆIMĀ C.E. 2006

Co-Editors

Thakur Sain Negi
Thinlay Ram Shashni
Tsering Dolkar
Vijay Raj Vajracharya

Banarsi Lal
Chhog Dorjee
Ranjan Kumar Sharma

Vol. XLII, 550 copies, 2006

Price : Rs. 95.00

© Central Institute of Higher Tibetan Studies,
Sarnath, Varanasi, 2006

Published by:

Central Institute of Higher Tibetan Studies,
Sarnath, Varanasi-221 007

Printed by:

Surabhi Printers
C. 27/273, Indian Press Colony
Maldahia, Varanasi-221 002

धीः XLII

विषयानुक्रमणी

•

कालमेघपटलान्तरोच्छलद्विद्युदुग्रपटलाधिकत्विषम् ।
सत्त्वभाजनयुगप्रदाहिकां त्वां नमामि जगदम्ब हेरुकीम् ॥

नाभिचक्रकुहराम्बुराशितो वज्रवारिजसमाजसंभवाम् ।
सौधसाररसपानलम्पटां त्वां नमामि वडवानलत्विषम् ॥

(व० ति० टी०, पृ० 5)

तथागतसंस्तवः

[इस अंक में 'तथागतसंस्तवः' नाम से दो स्तोत्र 'ललितविस्तर के 23वें परिच्छेद से लिए गए हैं। इनमें आभास्वर देवपुत्र एवं ब्राह्मकायिक देवपुत्रों द्वारा तथागत की स्तुति की गई है। तीसरा स्तोत्र 'चन्द्रप्रदीपसूत्रस्तुतिः'' को समाधिराजसूत्र (दरभंगा संस्करण) के परिशिष्ट-1, से लिया गया है। सम्पादक के अनुसार दो मातृकाओं में यह स्तोत्र ग्रन्थ के प्रारम्भ होने से पूर्व दिया गया है।]

गम्भीरबुद्धे मधुरस्वरा मुने
ब्रह्मस्वरा मुनिवरगीत सुस्वरम् ।
वराग्रबोधिं परमार्थप्राप्ता
सर्वस्वरे पारगते नमस्ते ॥ 1 ॥

त्रातासि दीपोऽसि परायणोऽसि
नाथोऽसि लोके कृपमैत्रचित्तः ।
वैद्योत्तमस्त्वं खलु शल्यहर्ता
चिकित्सकस्त्वं परमं हितंकरः ॥ 2 ॥

दीपंकरस्य सहदर्शनं त्वया
समुदानितं मैत्रकृपाभ्रजालम् ।
प्रमुञ्च नाथा अमृतस्य धारां
शमे हि तापं सुरमानुषाणाम् ॥ 3 ॥

त्वं पद्मभूतं त्रिभवेष्वलिप्तं
त्वं मेरुकल्पोऽविचलो ह्यकम्प्यः ।
त्वं वज्रकल्पो ह्यचलप्रतिज्ञ
त्वं चन्द्रमा[:] सर्वगुणाग्रधारी ॥ 4 ॥

[॥ इति ललितविस्तरे आभास्वरदेवपुत्रैस्तथागतसंस्तवः ॥]

•

तथागतसंस्तवः

शुभविमलप्रज्ञ प्रभतेजधरा
द्वात्रिंशल्लक्षणवराग्रधरा ।
स्मृतिमं मतिमं गुणज्ञानधरा
अकिलान्तका शिरसि वन्दमि ते ॥ 1 ॥

अमला विमला त्रिमलैर्विमला
त्रैलोक्यविश्रुत त्रिविद्यगता ।
त्रिविधाविमोक्षवरचक्षुददा
वन्दामि त्वां त्रिनयनं विमलम् ॥ 2 ॥

कलिकलुष उद्धृत सुदान्तमना
कृपकरुण उद्गत जगार्थकरा ।
मुनि मुदित उद्गत प्रशान्तमना
द्वयमतिविमोचक उपेक्षरता ॥ 3 ॥

व्रत तपस उद्गत जगार्थकरा
स्वचरीविशुद्धचरिपारगता ।
चतुसत्यदर्शक विमोक्षरता
मुक्तो विमोचयसि चान्यजगत् ॥ 4 ॥

बलवीर्य आगतु इहा नमुचि
प्रज्ञाय वीर्य तव मैत्र्य जितो ।
प्राप्तं च ते पदवरं अमृतं
वन्दाम ते शठचमूमथना ॥ 5 ॥

[॥ इति ललितविस्तरे ब्रह्मकायिकदेवपुत्रैः तथागतसंस्तवः ॥]

●

चन्द्रप्रदीपसूत्रस्तुतिः

ॐ नमः सर्वबुद्धबोधिसत्त्वेभ्यः।

अनिरोधमनुत्पन्नमनाविलमनक्षरम् ।
महायानमहं स्तोष्ये बुद्धज्ञानाभिवाञ्छया ॥ 1 ॥

त्राणकं सर्वसत्त्वानां घोरात् संसारसागरात् ।
संस्थापकं च निर्वाणे शान्ते क्षेमे निरुत्तरे ॥ 2 ॥

आकाशकल्पमचलं गम्भीरं शान्तमव्ययम् ।
तद् बुद्धयानमसमं भक्त्या वन्दे सदादरात् ॥ 3 ॥

अरूपमनिमित्तं च लक्ष्यलक्षणवर्जितम् ।
प्रापकं बोधिमार्गस्य अग्रयानमहं नतः ॥ 4 ॥

गम्भीरोदारविपुलो धर्मो यत्र प्रभाव्यते ।
तद् बोधिमण्डफलदं महायानं नमाम्यहम् ॥ 5 ॥

शाश्वतोच्छेदरहितमन्तद्वयविवर्जितम् ।
शून्यताप्रभवं शान्तं तं वन्दे बुद्धवर्णितम् ॥ 6 ॥

अप्रपञ्चं निरालम्बं बोधिसत्त्वैर्नमस्कृतम् ।
नमामि शिरसाजस्रं महायानमसंस्कृतम् ॥ 7 ॥

स्तुत्वा यानमनुत्तरं निरुपमं संसारसंतारकं
यत् पुण्यं प्रचितं विसारि विमलं तुङ्गं मया निश्चलम् ।
सर्वस्तेन जनः प्रयातु चपलं सम्प्राप्य यानाधिपं
निर्वाणं विरजः पुरोत्तमवरं बुद्धो यथा सर्ववित् ॥ 8 ॥

आर्यं चन्द्रप्रदीपं दशबलवृषभैर्यैरिदं सूत्रराजं
संख्यातीतैः प्रगीतं श्रुतिहृदयपरिप्रीणनं जन्मभाजाम् ।

संपद्भिः संनिगूढं बहुभिरपमलश्लाघिनीभिः सदैव
ह्याविन्यस्तात्मभावः प्रणतिमुपगतस्तानहं भक्तिनम्रः ॥ 9 ॥

वर्णौघं यस्य वक्तुं मुनिवरवृषभा अप्युपायान्ति सादं
सर्वज्ञेयावबोधप्रशमिततमसोऽप्यप्रमेयं सदैव ।
आर्यं चन्द्रप्रदीपं दशबलगदिताशेषसूत्राधिराजं
तं भक्त्यम्भोभरात्मा क्षितिनिहितशिराः सर्वकालं नमामि ॥ 10 ॥

येनानन्तसहस्रकल्पनयुतानारागिता नायका
यश्च ज्ञानविशेषधर्म उदितश्चन्द्रो यथा निर्मलः ।
तं चन्द्रप्रभ निष्प्रपञ्चमतुलं संवर्णितं नायकै-
र्वन्दे सर्वसमाधिधर्मकुशलमार्यं सदा भक्तितः ॥ 11 ॥

स्तुत्वा धर्मस्वभावां दशबलजननीं सर्वबुद्धांश्च वीरान्
आर्यं चन्द्रप्रभं च जिनवरतनयं सर्वदेवाभिवन्द्यम् ।
पुण्यं प्राप्तं मया यत् स्थिरगगनसमं तेन लोकस्त्वशेषो
लाभी भूयात् समाधेः सततमखिलपः शाक्यसिंहो यथैव ॥ 12 ॥

[॥ इति चन्द्रप्रदीपसूत्रस्तुतिः ॥]

•

भूतडामरतन्त्र : संक्षिप्त परिचय (2)

—जनार्दन पाण्डेय—

[धी: के गत अंक में इस शीर्षक के अन्तर्गत भूतडामरतन्त्र के प्रथम से चौथे पटल तक का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया गया था। प्रस्तुत अंक में शेष पटलों में आए विषयों का परिचय दिया जा रहा है। —गताङ्क से आगे]

पंचम पटल में पहले तो मण्डल की महिमा का वर्णन किया है, फिर उमादेवी और श्रीदेवी को वश में करने की साधना बताई है, जिसे प्रमथसाधनविधि कहा है। इसके बाद सर्वसाधनविधि कह कर किसी एक लिङ्ग मन्दिर में जाकर महादेव, नारायण, ब्रह्मा, कुमार, चन्द्रमा, गणपति, भैरव, वर्णेश्वर, महाकाल और चतुर्मूर्ति नारायण को साधना द्वारा अपना किङ्कर बनाने की बात कही है।

छठें पटल में शीर्षक तो दिया है—''महाकात्यायनी साधन'', किन्तु है यह ''चेटी साधन''। इसमें कहा है कि भूतडामरतन्त्र में विद्याधर, सुपुष्टि, चिन्तामणि, वज्रधर, यक्षिणी, पिशाची, शालभञ्जिका, भूत-भूतिनी, चेट-चेटी आदि किसी को भी वश में करने का साधन है, किन्तु सर्वप्रथम महाक्रोधाधिपति को सिद्ध करने के बाद ही अन्य साधनों को करना चाहिए। अमोघसिद्धिदायकमन्त्र है—''ॐ ह्वी: हूँ कट्ट कट्ट अमुकं हूँ हूँ हूँ'' इस मन्त्र से क्रोधमुद्रा के साथ आठ सौ जप करने मात्र से सभी चेट-चेटिकायें शीघ्र आती हैं।

गोरोचन से भूतिनी की प्रतिमा लिखकर बायें पैर से उसे दबाकर आठ हज़ार जप करे तो भूतिनियाँ हाहाकार करती हुई आती हैं और साधक की इच्छानुसार उसकी दासी बनकर रहती हैं। भोजपत्र पर भूतिनी की प्रतिमा लिखकर, बायें पैर से दबाकर, आठ हज़ार जप करे तो तत्काल आती है; तब उसके मुख पर सरसों मारे तो वह मर जाती है और फिर घी और शहद छिड़के तो जीवित हो जाती है और सम्पूर्ण दासीकर्म करती है। प्रतिदिन साधक को वस्त्र अलंकार आदि देती है।

विहार के द्वार पर बैठकर आठ हज़ार जप करे तो कुञ्जमती नामक भूतिनी आती है। उसे तुरन्त बलि देनी चाहिए। वह पूछे क्या चाहते हो, तो माता बनने की प्रार्थना करे तो वह माता बनकर सदा रक्षा करती है।

इसके बाद अष्टभूतिनीसाधन है, जिसे दरिद्रों के हित और नाना प्रकार की सिद्धियो को प्राप्त करने के लिए स्वयं क्रोधराज ने कहा है। इनके नाम हैं—(1) विभूषिणी, (2) कुण्डलहारिणी, (3) सिं(सं)हारी, (4) हासिनी, (5) नटी, (6) रति, (7) कामेश्वरी तथा (8) देवी। इन्के सिद्ध होने पर, ये सभी भार्या, माता, या भगिनी बनकर साधक की सहायता करती हैं।

विभूषिणी—रात्रि में चम्पक वृक्ष के पास जाकर तीन दिन तक प्रतिदिन आठ हज़ार जप करे। विधिवत् पूजा करके गुग्गुल की धूप दे तो विभूषिणी अर्धरात्रि में निश्चित रूप से आती है। उस समय उसे चन्दनोदक से अर्घ्य दे तो वह सन्तुष्ट हो जाती है। फिर यदि वह माता बनती है तो परिवार के लिए वस्त्रालङ्कार भोजनादि देती है, यदि भार्या बनती है तो एक हज़ार दीनार प्रतिदिन तथा रस-रसायन देती है। यदि भगिनी बनती है तो वस्त्रालङ्कार भोजन आदि के साथ गड़ा हुआ धन भी बताती है।

कुण्डलहारिणी—रात्रि में श्मशान में जाकर दस हज़ार जप करे, तो वह अवश्य आती है। आने पर उसे रुधिर का अर्घ्य देना चाहिए। वह प्रसन्न होकर पूछती है—क्या चाहते हो? तो साधक कहे मेरी माता बन जाओ तो वह माता बनकर पुत्रवत् उसका पालन करती है और उसे पन्द्रह दीनार प्रतिदिन देती है।

संहारी—रात्रि में किसी एकलिङ्ग वाले मन्दिर में जाकर दस हज़ार जप करे। वह तुरन्त आती है और भार्या बनकर नाना प्रकार के रस-रसायन और दो वस्त्र प्रतिदिन देती है।

हासिनी—वज्रपाणि गृह में जाकर प्रात:काल से ही मूर्ति के समीप हासिनी का चित्र लिखकर उस पर करवीर के फूल चढ़ावे और जप करना प्रारम्भ कर दे। अर्धरात्रि तक जप करता रहे तो वह तुरन्त आती है और क्या चाहते हो यह पूछने पर कहे कि तुम मेरी किङ्करी (दासी) हो जाओ, तो वह दासी बनकर उसका सब काम करती है और प्रतिदिन उसे वस्त्रालङ्कार भोजनादि देती है। जो उसने दिया उसका उसी दिन उपभोग कर लेना चाहिए यदि शेष बचेगा तो दूसरे दिन से वह नहीं देगी।

नटी—नदी संगम में जाकर आठ दिन तक प्रतिदिन आठ हज़ार जप करे। सातवें दिन विस्तृत पूजा करके सूर्यास्त के बाद चन्दन की धूप दे तो अर्धरात्रि में नटी प्रकट होती है और साधक की भार्या बनकर रात्रि में उसे प्रसन्न रखती है। प्रात:काल सौ दीनार शय्या में रखकर चली जाती है। उसे भी तुरन्त खर्च कर देना चाहिए।

महाचेटी—वज्रपाणि ने कहा है कि वह नामोच्चारण मात्र से सिद्ध होकर जो चाहो वह फल देती है। वज्रपाणि का वचन है—

न जापो न होमो पूर्वसेवा न जायते ।
सिद्धयते तत्क्षणादेव वज्रपाणिवचो यथा ॥

चेटी—अपने ही घर के दरवाजे पर तीन दिन तक जप करे तो चेटी प्रसन्न होकर आ जाती है और एक दासी की तरह सारा घर का काम अथवा कृषि कार्य करने लगती है।

कामेश्वरी—मांसाहार करके मात्रिका स्थान में जावे और रात्रि में मत्स्य मांस का बल्युपहार देवे। सात दिन तक प्रतिदिन एक हज़ार जप करे तो निश्चित आती है। आने पर उसे दूध और रक्त मिलाकर अर्घ्य देना चाहिए वह भार्या बनकर सम्पूर्ण इच्छायें पूरी करती है।

देवी—रात्रि में देवगृह में जाकर शय्या की कल्पना करे। सफेद चन्दन और सफेद फूलों से अर्घ्य और गुग्गुल की धूप देकर आठ हज़ार जप करे। जप पूरा होते ही तुरन्त आती है और दिव्य स्वरूप वाली सर्वालङ्कार भूषित कुमारी बनकर साधक को आनन्दित करती है तथा प्रतिदिन दीनार, वस्त्रालङ्कार व इच्छानुसार पूरे परिवार को भोजन देती है।

सप्तम पटल में **अप्सरा साधन** बताते हैं। पूर्ववत् वज्रधर ने मन्त्र पढ़कर सभी देवताओं को खण्ड-खण्ड कर दिया तब अप्सराओं ने उनके पैरों में सिर रखकर वन्दना की और प्रार्थना करके अपना हृदय उन्हें दे दिया। बीज सहित उनके नाम इस प्रकार हैं—(1) ॐ श्रीः शशिदेवी, (2) ॐ श्रीः तिलोत्तमा, (3) ॐ श्रीः काञ्चनमाला, (4) श्रीः ह्रीः कुण्डलधारिणी, (5) ॐ हूँ रत्नमाला, (6) ॐ सैः रम्भा, (7) ॐ हूँ उर्वशी, (8) ॐ श्रीः भूषिणी।

शशिदेवी—पर्वत शिखर पर जाकर एक लाख जप करे तो तत्काल आ जाती है। उसे चन्दनोदक से अर्घ्य दे, वह सर्वसिद्धि प्रदान करती है।

तिलोत्तमा—चन्दन की लकड़ी की माला बनाकर सात दिन तक दस हज़ार जप करे। सातवें दिन विस्तार से पूजा करके शुक्ल पक्ष की अष्टमी को पर्वत शिखर पर जाकर रातभर जप करे। प्रातःकाल सामने आकर खड़ी हो जाती है, तब उसे चुप-चाप आलिङ्गन चुम्बन आदि करे तो प्रसन्न होकर साधक की सभी इच्छाओं को पूरी करती है।

काञ्चनमाला—नदी संगम में जाकर सात दिन तक आठ हज़ार जप करे। सातवें दिन विस्तार से पूजा करके गुग्गुल की धूप देकर रातभर जप करे। प्रात: आ जाती है। तब चन्दनोदक से अर्घ्य देकर प्रार्थना करे—तुम मेरी माता बन जाओ तो वह माता बनकर सब प्रकार से पूरे परिवार का पालन करती है।

कुण्डलधारिणी—इसकी साधना विधि के अनुसार उपवास करके की जाती है। पर्वत शिखर पर जाकर एक मास तक दस हज़ार जप करे फिर धूप देकर रातभर पुन: जप करे तो प्रात:काल वह निश्चित रूप से आती है तथा भार्या बनकर हर प्रकार से सेवा करती है। नाना प्रकार के रस-रसायन देती है और पीठ पर बैठाकर विभिन्न लोकों का भ्रमण कराती है।

रत्नमाला—किसी देव मन्दिर में जाकर एक मास तक आठ हज़ार जप करे। अन्त में पूर्णमासी के दिन आधी रात तक जप करे तो वह नूपुरों का झनकार करती हुई आती है और भार्या बनकर सब प्रकार की सेवा करती है। सुवर्ण का दीनार देती है।

रम्भा—प्रतिपदा से लेकर रोज चन्दन से मण्डल बनाकर गुग्गुल की धूप देकर त्रिकाल सन्ध्या में आठ हज़ार जप करे। पूर्णमासी के दिन विस्तृत पूजा करके रातभर जप करे, प्रात: अवश्य आयेगी और भार्या बनकर रहेगी। दस हज़ार वर्ष तक जीवित रखेगी। मरने पर राजकुल में जन्म करायेगी यदि न आई तो मर जायेगी।

उर्वशी—रात्रि में किसी देवस्थान में जाकर चन्दन से धूप देकर आठ हज़ार जप करे। महीने के अन्त में अपनी सामर्थ्य के अनुरूप पूजा करके रातभर जप करे। प्रात:काल अवश्य आयेगी तब उसे पुष्पासन पर बैठाकर स्वागत करे। वह भार्या बनकर रस-रसायन और सिद्धि द्रव्यों को देती है। इसकी साधना में अन्य स्त्री का सेवन वर्जित है।

श्रीभूषिणी—रात्रि में भोजपत्र पर श्रीभूषिणी की मूर्ति बनावे चन्दन से धूप देकर जप करे, मास के अन्त में अपने विभवानुसार पूजा करे और अर्धरात्रि तक जप करे। तत्काल आयेगी तब उसे तृप्त करे तो सन्तुष्ट होकर सोना, चाँदी, रत्न, इच्छानुसार भोजन, वस्त्र तथा रस-रसायन आदि देती है।

इसके बाद वज्रपाणि गुह्यकाधिपति का कहना है कि यदि इन साधनों से न आवे तो क्रोध सहित इन मन्त्रों को जपे "ॐ ह्रीं आकट्ट आकट्ट अमुकं हूँ फट् फट्" इस मन्त्र का जप करते ही न आने वाली अप्सरा का सिर फूट जायेगा। "ॐ बन्ध-बन्ध हन हन

अमुकं हूँ फट् फट् स्वाहा"। "ॐ चल-चल अमुकं वशमानय हूँ फट्"। इन मन्त्रों से सभी अप्सरायें वश में आ जाती हैं।

आगे क्रोधराज की बतायी हुई उन विधियों को बताते हैं जिनसे आठों अप्सरायें वश में हो जाती हैं। अप्सरायें ही नहीं चेट, चेटी, भूत, भूतिनी भी वश में होती हैं और माता, भगिनी या भार्या बनकर कार्य करती हैं। इसके बाद सबकी आकर्षण, सन्निधिकरण, अभिमुखीकरण मुद्राओं के मन्त्र बताये हैं। यहाँ सप्तम पटल पूर्ण होता है।

अष्टम पटल में **यक्षिणी साधन** वर्णित है। मन्त्र सहित आठ यक्षिणियों के नाम इस प्रकार हैं—(1) सुरसुन्दरी—ॐ आगच्छ सुरसुन्दरी स्वाहा, (2) मनोहारी—ॐ सर्व-मनोहारिणी स्वाहा, (3) कनकमती—ॐ कनकमति मैथुनप्रिये स्वाहा, (4) कामेश्वरी—ॐ आगच्छ कामेश्वरी स्वाहा, (5) रतिप्रिया—ॐ रतिप्रिये स्वाहा, (6) पद्मिनी—ॐ पद्मिनी स्वाहा, (7) नटी—ॐ महानटी सुरपति स्वाहा, (8) अनुरागिणी—ॐ अनुरागिणि मैथुनप्रिये स्वाहा।

सुरसुन्दरी—वज्रपाणि गृह में जाकर गुग्गुल की धूप दे तथा नित्य त्रिकाल एक हज़ार जप करे तो एक महीने के अन्दर वह प्रकट होती है। यदि माता बनती है तो रस-रसायन और एक लाख दीनार प्रतिदिन देती है या राज्य देती है। यदि भगिनी बनती है तो दिव्य स्त्रियों से सम्पर्क कराती है। रस-रसायन और द्रव्य देती है और भूत, भविष्य, वर्तमान का ज्ञान कराती है। यदि स्त्री बनती है तो सब प्रकार की कमी को पूर्ण करती है और पर्याप्त धन देती है।

मनोहारिणी—नदी तट में जाकर चन्दन से मण्डल बनावे, विस्तार से पूजा करके आठ हज़ार जप करे, गुग्गुल की धूप दे फिर सात दिन तक दस हज़ार जप करे। सातवें दिन फिर पूजा करके रातभर जप करे। आधी रात को वह अवश्य आती है। यदि न आयी तो वह मर जायेगी। आने पर उससे चेटी (दासी) बनने को कहे, वह चेटी बनकर सौ दीनार प्रतिदिन देती है। उन्हें तुरन्त खर्च कर देना चाहिए नहीं तो वह दूसरे दिन नहीं देगी।

कनकमती—वट वृक्ष के पास जाकर विधिपूर्वक मत्स्य, मांस और सुरा की बलि दे। अपने को ही देवता मानकर उसे ग्रहण करे, जो शेष बचे उससे अर्घ्य दे और एक हज़ार जप करे। सात दिन तक ऐसा करके सातवें दिन अर्धरात्रि में परिवार सहित स्वयं

आती है तो उसे भार्या बनने को कहे। वह प्रतिदिन बारह व्यक्तियों का भोजन, वस्त्रालङ्कार और आठ दीनार प्रतिदिन देती है।

कामेश्वरी—भोजपत्र पर कामेश्वरी का चित्र बनाकर अकेला अम्बा मन्दिर में आरूढ़ होकर एक हज़ार जप करे। महीने के अन्त में विस्तार से पूजा करे फिर घी के दिये जलाकर मौन होकर जप करे तो आधी रात को अवश्य आती है। आकर साधक की इच्छा पूर्ण करती है और दिव्य सुख का उपभोग कराकर दिव्य शय्या और वस्त्रालङ्कार छोड़ जाती है। इस बीच अन्य स्त्री का संभोग नहीं करना चाहिए अन्यथा साधक नष्ट हो जायेगा।

रतिप्रिया—कपड़े पर सुनहरे वर्ण वाली सब अलङ्कारों से युक्त कमल हाथ में ली हुई कुमारी का चित्र बनावे, जाती पुष्पों से उसकी पूजा करे। गुग्गुल की धूप देकर आठ हज़ार जप करे। एक महीने तक जप करके उदार चित्त से पूजा करे, घी के दिये जलावे, पुनः जप करे तो आधी रात को स्वयं आती है और वह भार्या बनकर उसकी कामना को पूर्ण करती है। परिवार का पालन करती है प्रतिदिन भोजन और एक सौ आठ दीनार देती है।

पद्मिनी—अपने ही घर के किसी ऊँचे स्थान पर चन्दन से मण्डल बनाकर गुग्गुल की धूप देकर एक महीने तक एक हज़ार प्रतिदिन जप करे। पौर्णमासी के दिन अपनी शक्ति के अनुसार पूजा करके जप करता रहे तो आधी रात को वह अवश्य आती है और भार्या बनकर चुपचाप सब काम करती है। रस-रसायन और गुप्त धन देती है।

नटी—अशोक वृक्ष के नीचे मांस की बलि और गुग्गुल की धूप देकर एक हज़ार जप करे। एक महीने के अन्दर ही प्रकट होती है और माता, भगिनी या भार्या बनकर तदनुरूप फल देती है।

अनुरागिणी—भोजपत्र पर कुङ्कुम से इसका चित्र बनावे, प्रतिपदा के दिन से गुग्गुल की धूप देकर एक मास तक त्रिकाल पूजा करे। पौर्णमासी के दिन उदारतापूर्वक पूजा करके घी के दीपक जलावे, रातभर जप करे तो प्रातःकाल अवश्य आती है और सब इच्छापूर्ति करने वाली भार्या बनकर रहती है। रस-रसायन तथा एक हज़ार दीनार देती है।

इसके बाद गुह्यकाधिपति वज्रपाणि ने कहा है कि यदि पूर्वोक्त साधना करने पर कोई यक्षिणी न आवे तो क्रुद्ध होकर इस मन्त्र का जप करे—"ॐ भ्रूं कट्ट कट्ट अमुक

यक्षिणी ह्रीः जः जः हूँ फट्''। इसके एक हज़ार जप से तुरन्त आती है, यदि न आई तो उसका मस्तक या उसकी आँखें फूट जायेंगी या मर जायेगी तथा आठों नरकों में जायेगी।

इसके बाद क्रोधराज की तथा यक्षिणियों की परममुद्रा आवाहन, अभिमुखीकरण तथा विसर्जन मुद्रायें बतायी गयी हैं। यहीं **अष्टम पटल** समाप्त होता है।

नवम पटल में **नागिनी साधन** बताते हैं। मन्त्र सहित इन आठों के नाम हैं—(1) ॐ फुः अनन्तमुखी, (2) ॐ फुः ग्रं फुः कर्कोटकमुखी, (3) हुः गं फूः पद्ममुखी, (4) फुः आः फूः महापद्ममुखी, (5) फुः धीः फूः वासुकिमुखी, (6) फुः म्ले फूः ज्वालामुखी, (7) फुः कं फूः धूपमुखी, (8) फुः साः फूः शंखपालमुखी।

नागभवन में जाकर एक लाख जप करे तो पूर्वसेवा हो जाती है और सभी नागिनियाँ सन्तुष्ट हो जाती हैं।

अनन्तमुखी—शुक्लपक्ष की पञ्चमी को नाग भवन में जाकर जल में उतर कर गन्ध, धूप, दीप और दूध से पूजा करे फिर आठों नागिनियों के मन्त्रों का एक हज़ार जप करे। शीघ्र ही नागिनी जलते हुए शरीर से आती है, तुरन्त उसे चन्दन का अर्घ्य दे, स्वागत करते हुए भार्या बनने को कहे तो वह भार्या बनकर आठ दीनार प्रतिदिन देती है, जिसे कहो उसे मार देती है जिसे कहो उसे जीवित कर देती है।

कर्कोटकमुखी—नदी संगम में जाकर केवल दूध पीकर आठ हज़ार जप करे, दिव्यनागिनी आती है। उसे फूलों के आसन में बैठावे। वह भी भार्या बनकर दिव्य भोजन, पाँच दीनार प्रतिदिन देती है, शय्या में उपभोग कराती है।

पद्ममुखी—रात्रि में नागस्थान में जाकर आठ हज़ार जप करे। जप समाप्त होते ही तीव्र शिरोवेदना से कांपती हुई नागिनी आती है और कहती है—मुझे क्या करना है? तब साधक कहे कि तुम मेरी माता बनो, वह माता बनकर प्रतिदिन पाँच व्यक्तियों का भोजन, वस्त्र, अलङ्कार और पाँच दीनार देती है, उसे तत्काल व्यय करना चाहिये। शेष न बचे, नहीं तो नहीं देगी।

महापद्ममुखी—रात्रि को किसी सरोवर के पास जाकर आठ हज़ार जप करे। शीघ्र आती है और भार्या बनकर आठ दीनार प्रतिदिन देती है, जिन्हें उसी दिन खर्च कर देना चाहिए, नहीं तो फिर नहीं देगी।

वासुकिमुखी—रात्रि में नदी संगम में जाकर आठ हज़ार जप करे। जप पूरा होते ही वह आ जाती है, तब उसे सुन्दर मांस देकर स्वागत करे। वह भार्या बनकर प्रतिदिन पाँच सौ सुवर्ण मुद्रा देती है।

ज्वालामुखी—रात्रि में पद्म सागर में जाकर आठ हज़ार जप करे। नागिनी शीघ्र आती है, उसे भार्या अथवा भगिनी बनने को कहे। वह एक दीनार तथा दो वस्त्र प्रतिदिन देती है।

धूपमुखी—नागभवन में जाकर नासिका तक गहरे पानी में उतर कर आठ हज़ार जप करे। शीघ्र आती है, फूलों से उसका स्वागत करे। वह भी भार्या बनकर आठ दीनार तथा भोजन और वस्त्र प्रतिदिन देती है।

शंखपालमुखी—रात्रि में नागभवन में जाकर रातभर जप करे। प्रातःकाल वह सब अलंकरणों से सजी हुई आती है तब उसका फूल और चन्दनोदक से अर्घ्य देकर स्वागत करे। वह भी भार्या बनकर दिव्य रस-रसायन और सिद्धि द्रव्य देकर सब इच्छाओं की पूर्ति करती है, राज्य भी देती है।

इनके अतिरिक्त भी नागकन्यायें आती हैं और फल देती हैं। नागकन्या के पास जाकर आठ हज़ार जप करे, वह शीघ्र आती है। उसके सिर में नागपुष्प चढ़ाने पर वह भी भार्या बनकर दिव्य वस्त्रालङ्कार देती है।

इसके बाद नागिनियों के आवाहन, गन्ध, पुष्प, धूप, दीप और विसर्जन के मन्त्र देकर उनकी समय-मुद्राओं के लक्षण बताए हैं। जो नागिनी नहीं आती है तो गुह्यकाधिपति वज्रपाणि वज्र चमका कर यह मन्त्र पढ़ते हैं—"ॐ नीलवर्ण वय अमुक नागिनीं आकर्षय हूँ हूँ हूँ फट् फट् फट्"। इस मन्त्र के पढ़ते ही नागिनी मूर्छित हो जाती है और मर जाती है। आठ नरकों में जाती है।

अब **किन्नरी साधन** प्रारम्भ होता है। ये किन्नरियाँ छह हैं। मन्त्र सहित इनके नाम इस प्रकार हैं—(1) ॐ मनोहारिणी स्वाहा, (2) ॐ सुभोगे स्वाहा, (3) ॐ विशालनेत्री स्वाहा, (4) ॐ सुरतप्रिये स्वाहा, (5) ॐ सुमुखी स्वाहा, (6) ॐ दिवाकरमुखी स्वाहा। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि आगे साधन केवल पाँच का ही दिया है और साधन विधि में किसी का नाम नहीं दिया है। सम्भवतः किसी एक किन्नरी का साधन छूट गया है।

पर्वत शिखर पर जाकर आठ हज़ार जप करे। सातवें दिन रात्रि में विस्तृत पूजा करके गुग्गुल मिले हुए गोमांस की धूप दे और अर्धरात्रि तक जप करे। वह निश्चित रूप से

आती है। उसे देखकर डरना नहीं चाहिए। वह भार्या बनकर अपनी पीठ पर बैठाकर देवलोक तक ले जाती है, इच्छानुसार दिव्य भोजन देती है।

पर्वत के मूल में या किसी विहार में जाकर दस हज़ार जप करे, जप समाप्त होते ही अपने कोमल हाथों से साधक का स्पर्श करती है और भार्या बनकर आठ दीनार और दो वस्त्र प्रतिदिन देती है।

नदी किनारे जाकर दस हज़ार जप करे फिर रातभर जपे तो प्रात:काल अवश्य आती है। वह भी भार्या बनकर प्रतिदिन पाँच दीनार देती है।

रात्रि में नदी संगम में जाकर आठ हज़ार जप करे जप के अन्त में वह केवल दर्शन देती है और दूसरे दिन सामने आकर खड़ी हो जाती है तथा बोलने लगती है। तीसरे दिन से भार्या बनकर आठ दीनार और दो वस्त्र प्रतिदिन देती है।

पर्वत के शिखर पर जाकर प्रतिदिन मांसाहार करता हुआ दस हज़ार जप करे। शीघ्र ही उपस्थित होती है उसका आलिङ्गन चुम्बन करते हुए सत्कार करे। वह भी प्रतिदिन आठ दीनार और इच्छानुकूल दिव्य भोजन देती है। यहीं पर किन्नरी साधन समाप्त होता है।

इसके बाद क्रोधराज की **मण्डलविधि** बताते हैं। वज्रपाणि गुह्यकाधिपति ने कहा—हे महादेव! मैं तीनों लोकों का अतिक्रमण करके विशेष किङ्कर को सिद्ध करता हूँ, आठों देवताओं को मार सकता हूँ। तब महादेव ने कहा—हे भगवन्! इस त्रिलोक को अतिक्रान्त करने वाले साधन की विधि, मुद्रा, मन्त्र और समय का साधन मुझे बताइये। तब वज्रधर महाक्रोधाधिपति ने कहा—क्रोधमण्डल की निर्माण विधि को सुनो—

चार कोण, चार द्वार, चार तोरण और सोलह भागों वाले वज्रप्राकार से शोभित मण्डल में जलती हुई युगाग्नि के समान कांति वाले काले वर्ण के महाकाय, मुण्डमाला से भूषित, भयङ्कर अट्टहास करते हुए वज्रकोध को मण्डल के मध्य में स्थापित करे। भगवान् के दाहिनी ओर महादेव को लिखे जो अत्यन्त सफेद वर्ण, तीन नेत्र, चामर, त्रिशूल, चाप और शक्ति वाले चार हाथों से युक्त, वृषभ पर बैठे हुए हों। भगवान् के वाम भाग में नारायण को लिखे जो श्यामवर्ण, चँवर, शंख, चक्र, गदा चारों हाथों में लिये हुए गरुड पर आरूढ हों। भगवान् के पीछे पीले वर्ण वाले त्रिनेत्र, हाथी पर बैठे, चारों भुजाओं में अभय, वज्र, चँवर और मुष्टि धारण किये हुए शक्र राजा को लिखे। शक्र के सामने अपने

आसन पर बैठे हुए सफ़ेद छत्र धारण किये हुए ब्रह्मा को लिखे और सामने लालवर्ण चतुर्भुज शक्ति, चँवर और अक्षमाला धारण किये मयूरासन में बैठे हुए कार्तिक को लिखे। उसके बाद आठ भूतिनियों को लिखे, उनके नाम इस प्रकार हैं—

(1) सिंहध्वज धारिणी, (2) पद्मावती, (3) महापद्मावती, (4) सुरहारिणी, (5) वरहारिणी, (6) महारत्नेश्वरी, (7) रत्नविभूषिणी तथा (8) जगत्पालिनी। ये आठों श्री शब्द से कही जाती हैं। इनमें पद्मावती और महापद्मावती श्वेतवर्ण और विभूषिणी रक्तवर्ण की होती है।

इसके बाद मण्डल-प्रवेश की विधि बताते हैं। वज्राचार्य स्वयं नीले फूलों की माला पहने हुए नीली पगड़ी सिर में बाँधे दो नीले वस्त्रों को ओढ़कर क्रुद्ध रूप में यह बोले—

सर्वसत्त्वहितार्थाय क्रोधसाधनसिद्धये ।
निश्छिद्रं तत्क्षणात्सिद्धिः समस्तदेवसाधने ॥

"हूँ वज्र फट्" इतना उच्चारण करने मात्र से सभी देवता सिद्ध किये जा सकते हैं। प्रत्यालीढ आसन से वज्र को चमकाते हुए हूँकार करते हुए सम्पूर्ण देवताओं को वश में किया जा सकता है, ऐसा वज्रपाणि का वचन है। अप्सरा, यक्षिणी, नागिनी, भूत, भूतिनी भी इस वज्र के आक्षेप से नष्ट हो जाती हैं। "ॐ वज्रदीप्त महाक्रोध हन हन दह, दह पच पच मारय हूँ फट्" इससे सभी देवता मारे जा सकते हैं, "हूँ हूँ हूँ फट् फट् फट्" इस प्रयोग से भी नष्ट किये जा सकते हैं।

इसके बाद शिष्य को मण्डल में प्रवेश करने के लिए क्रोधमुद्रा से ढककर इस मन्त्र से प्रवेश करावे "ॐ प्रविश क्रोध हूँ हूँ हूँ आः ज्वालामालाकुल भीषणवज्र आः" इस मन्त्र के उच्चारण मात्र से वह बाह्य आवेशन, क्रन्दन और पातन में समर्थ होता है।

अब भूतडामरतन्त्र में **क्रोधमण्डल में स्थापन की विधि** बताते हैं। "ॐ भूः श्री सिंहध्वजधारिणी ह्रीः" क्रोधराज के सामने। "ॐ हूँ हूँ भ्रू महापद्मावती धनुर्बाणधारिणी हूँ" क्रोधराज के पीछे। "ॐ विभूति अङ्कुशधारिणी हूँ जः" क्रोधराज के दक्षिण ओर। "ॐ हूँ भूः सुरः हारिणी चिन्तामणि ध्वजधारिणी हूँ" क्रोधराज के बायीं ओर। "ॐ श्री वरहारिणी पुष्पहस्ते हूँ" ईशानकोण में। "ॐ श्री वज्रेश्वरी धूपहस्ते हूँ" आग्नेय दिशा में। "ॐ विभूषिणी गन्धहस्ते हूँ" नैर्ऋत्य दिशा में। "ॐ जगत्पालिनी दीपहस्ते अः" वायव्य दिशा में।

इसके बाद इन आठों भूतिनियों की मुद्राओं के प्रकार बताये गये हैं। यहाँ पर क्रोधराज मण्डल विधि समाप्त हो जाती है।

अब **किङ्कर साधन विधि** बताते हैं। इसमें अष्टभूतों की साधन विधि बताई गई है। मन्त्र सहित इनके नाम इस प्रकार हैं—(1) "हूँ हूँ ॐ जः अपराजित, (2) ॐ हूँ जः अजित, (3) ॐ ह्रीः जः पूरण, (4) ॐ हूँ जः आपूरण, (5) ॐ स्त्रों जः श्मशानाधिपति, (6) ॐ हूँ जः कुलेश्वर, (7) ॐ रूँ जडभूतेषु(भूतेश), (8) ॐ आः जः किङ्करोत्तम"। फिर इन आठों महाभूतों की क्रम से साधन विधि बताते हैं।

अपराजित—श्रीवज्रधर के सामने एक लाख जप करके पूर्वसेवा हो जाती है, तब पूर्णमासी के दिन विस्तृत पूजा करके भात, दही, गुड़, खीर इन पदार्थों से यथोक्त बलि देकर गुग्गुल की धूप दे और रातभर जप करे। प्रातःकाल निश्चित रूप से आयेगा। यदि न आया तो मर जायेगा। प्रसन्न होकर यह विद्याधर राज्य तक दे सकता है। सम्पूर्ण शत्रुओं का नाश करता है। यह सब उपद्रवादि शान्त करके इन्द्रलोक तक ले जाता है और सात कल्पों तक जीवित रखता है।

अजित—चैत्य के सामने रात्रि में सात दिन तक आठ हज़ार जप करे। सातवें दिन विस्तृत पूजा करके बलि दे और गुग्गुल की धूप देकर फिर जप करे। जप समाप्त होने पर वह निश्चित रूप से आता है और किङ्कर होकर अपनी पीठ पर चढ़ाकर चारों दिशाओं में घुमा सकता है, राज्य दे सकता है और एक हज़ार वर्ष तक जीवित रख सकता है।

पूरण—वज्रधर के घर में जाकर सात दिन तक आठ हज़ार जप करे। सातवें दिन विस्तृत पूजा करके दही और भात की बलि दे। अर्धरात्रि तक पुनः जप करे। वह तत्काल आ जाता है आते ही उसे फूल से अर्घ्य दे। वह प्रसन्न होकर राज्य देता है। सब इच्छायें पूरी करता है, एक हज़ार वर्ष तक जीवित रखता है और जीवन भर किङ्कर होकर जिसे मारने को कहे उसे मार देता और जीवित रखने को कहे उसे जीवित रख देता है।

आपूरण—धातु से बने चैत्य के सामने बैठकर दस हज़ार जप करे इससे पूर्वसेवा हो जाती है। पूर्णमासी के दिन अपने विभव के अनुसार पूजा करके अर्धरात्रि तक पुनः जप करे। शीघ्र आ जाता है और किङ्कर होकर दिव्य यक्ष-कन्याओं को सामने ला देता

है। गड़े हुए धन को दिखाता है, दिव्य इच्छानुकूल भोजन देता है, प्रतिदिन दो लाल वस्त्र और पाँच दीनार देता है। पाँच सौ वर्ष तक जीवित रखता है।

श्मशानाधिपति—रात्रि में श्मशान में जाकर आठ हज़ार जप करे। सातवें दिन विशेष पूजा करके मत्स्य मांस, सफेद भात और दही, गुड़ की बलि देकर पुनः जप करे, गुग्गुल की धूप दे। अर्धरात्रि में हाहाकार सुनाई देगा, उससे डरे नहीं। वह परिवार सहित आता है फिर उसका सत्कार करे तो प्रसन्न होकर किङ्कर बन के प्रतिदिन आठ दीनार देता है और उसके सब शत्रुओं को मार डालता है। एक हज़ार वर्ष तक जीवित रखता है।

कुलेश्वर—किसी देव मन्दिर में जाकर लाल चन्दन, लाल फूल और गुग्गुल की धूप देकर दस हज़ार जप करे। इससे पूर्वसेवा हो जाती है। रात्रि में कृष्ण चतुर्दशी को मत्स्य मांस, तिलजम्बुडिका, लाल भात की बलि दे। गुग्गुल की धूप देकर अर्धरात्रि तक पुनः जप करे तो भीषण आकृति वाला कुलेश्वर आता है और सभी किङ्कर कर्म करता है। दिव्य भोजन देता है। पाँच सौ वर्ष तक जीवित रखता है।

भूतेश्वर—एक लिङ्ग मन्दिर में जाकर रात्रि में तीन दिन तक अकेला लाल भात, मत्स्य मांस और तिलजम्बुडिका दे। बकरी का मांस मिले हुए गुग्गुल और शहद की धूप दे फिर आठ हज़ार जप करे तो प्रथम दिन स्वप्न में दिखाई देगा और दूसरे दिन स्वयं आ जायेगा तो किङ्कर होकर अप्सराओं तक ले आता है। भूत, भविष्य और वर्तमान सब बता देता है। तीन सौ वर्ष तक जीवित रखता है।

किङ्करोत्तम—वज्रधर के घर में जाकर कृष्णपक्ष की चतुर्दशी से सात दिन तक दस हज़ार जप करे उसके बाद सफेद भात, घी, खीर, कुशासन, घी का दिया जलाकर रातभर ज़पे। अर्धरात्रि में स्वयं आता है, आने पर चन्दनोदक से उसे अर्घ्य दे। वह प्रसन्न हो जाता है और सभी किङ्कर कर्म करता है। दिव्य भोजन देता है, पीठ में बैठाकर स्वर्ग तक भी ले जाता है, राज्य देता है। पाँच हज़ार वर्ष तक जीवित रखता है। यहाँ पर किङ्कर साधन विधि समाप्त हो जाती है।

इसके बाद **सिद्धिसाधनविधिविस्तरः** कहकर आचार्यों के कल्याण के लिए बताया है कि जो मनुष्य आलसी, पापकारी, झूठ बोलने वाला, दुश्शील, दरिद्र, रोगी, स्वल्पायु और चञ्चल चित्त वाला हो, ऐसे मनुष्य को यह विधि नहीं बतानी चाहिए। यह मन्त्र रसायन सिद्धि मन्त्र कहे जाते हैं। इनके द्वारा देवताओं के राजा को भी सिद्ध किया

जा सकता है, मनुष्यों की तो बात ही क्या है। देवकन्यायें भी इन मन्त्रों से तत्काल वश में हो जाती हैं। अत्यन्त कमजोर व्यक्ति भी इनके द्वारा सारी सुखसम्पदा भोगता है। ये नाना प्रकार की सिद्धि, राज्य और सम्पत्ति दायक है। यहीं पर यह सिद्धिसाधनविधि समाप्त हो जाती है।

इसके बाद **अष्टभूतमुद्रालक्षणं** इस शीर्षक से आठों महाभूतों की मुद्रायें बतायी गई हैं और प्रकरण समाप्त हो जाता है।

फिर **सौम्यसाधनविधि** कहकर नया प्रकरण शुरू होता है। इसमें वज्रपाणि गुह्याधिपति भगवान् को कहते हैं—वज्राचार्यों के कल्याण के लिए आठों भूतिनियों को आठों भूतों सहित भूतराजाओं को इस प्रकार सिद्ध करना चाहिए ''श्री हूँ क्रोधाधिपते''। क्रोधाधिपति के सामने एक लाख जप करे। इस प्रकार पूर्वसेवा हो जाती है। तब पूर्णमासी के दिन अपने विभव के अनुसार पूजा करके गुग्गुल की धूप देकर रातभर जप करे। प्रातः काल निश्चित रूप से भूतिनी आती है। आने पर चन्दनोदक से उसे अर्घ्य दे और स्वागत करे। वह भार्या बनकर उसे दिव्य रस-रसायन, इच्छानुसार भोजन, सिद्धि द्रव्य, गड़ा हुआ धन और राज्य भी देती है। यहाँ पर **सौम्यसाधनविधि** समाप्त होती है।

इसके बाद **मारणविधिविस्तरः** करके नया प्रकरण शुरू होता है। इसमें भोजपत्र पर कुङ्कुम से श्रीभूतिनी का चित्र लिखे और रात्रि में अकेला नग्न होकर वज्रधर के सामने आठ हज़ार जप करे तो शीघ्र आ जाती है। आने पर उसका स्वागत करे। प्रसन्न होने पर वह राज्य देती है, पीठ पर बैठाकर सभी लोकों में भ्रमण कराती है। एक हज़ार वर्ष तक जीवित रखती है। यदि वह न आई तो उसकी आँख फूट जाती है या वह मर जाती है। इसी प्रकार सब भूतिनियों की मारण विधि बताई गई है। पहले की तरह मण्डल बनाकर जिसको मारना हो उसके नामाक्षरों को लिखे, कुङ्कुम से नामाक्षर लिखकर बायें पैर से उसे दबाकर हूँकार का सौ बार जप करे तो उसे तत्काल मार डालती है। यहाँ पर **भूतिनियों की मारण विधि** समाप्त हो जाती है।

इसके बाद **विसर्जन की प्रक्रिया** बताते हैं। भूत को नमस्कार करके इस मन्त्र से उसका विसर्जन करे—''भूत रौद्रस्थानं प्रमुञ्चतु स्वाहा''। उसके बाद उपहार देवताओं का **आवाहन मन्त्र** बताते हैं। उपहार देवता को लाल भात, फूल और धूप से बलि देकर सफेद वस्त्र से ढककर तीन बार मन्त्र का उच्चारण करे। इस प्रकार देवता को प्रणाम करे ''हे महाभूत स्वस्थानं गच्छतु श्मशानदेवकुलेषु''। एकवृक्ष, नदीतट, चौराहा, एकलिङ्गी देवता

के मन्दिर में शीघ्र भूतों के समय का पालन करते हुए-वज्र से स्फालन करे और "यथा यथा स्वस्थानं गच्छन्तु यथासुखं स्वाहा"।

इसी प्रकार उपहार के संक्रमण से सिद्धि प्राप्त करने की **भद्रदेवाचार्यविधि** बताते हैं—श्मशान, देवमन्दिर में या पर्वत के शिखर पर भूतलोग शीघ्र जावें, समय का प्रतिपालन करें, क्रोध जापी स्वयं इसका जप करें। "ॐ अमोघ वज्रांकुश कर कर कुरु कुरु कट्ट कट्ट हन हन अमोघवज्रांकुशाय सर्वदेवताभूतिनीं आकर्षय"। यह आकर्षण मन्त्र है। "ॐ चण्डक्रोधाय अमोघाङ्कुशाय कर कर कुरु कुरु ह्वी: हूँ ज:" दोनों तर्जनियों से अङ्कुशाकार करके अङ्कुश मुद्रा दिखावै। "ॐ वज्रक्रोध बलिं गृह्ण गृह्ण हूँ फट्" तीन बार या सात बार जप करके बलि दे। "ॐ ह्वी: भूतडामरमहावज्राय हूँ हूँ हूँ श्लु, श्लु हूँ फट् फट् स्वाहा बलिं गृह्णन्तु चटेका यथा प्राप्तिं कायवाक्‌चित्तवज्राय स्वाहा"।

इसके बाद सोलह प्रकार की शून्यताओं के नाम गिनाये गये हैं—(1) बहिर्धा-शून्यता, (2) अध्यात्मशून्यता, (3) अध्यात्मबहिर्धाशून्यता, (4) शून्यताशून्यता, (5) महा-शून्यता, (6) परमार्थशून्यता, (7) असंस्कृतशून्यता, (8) अत्यंतशून्यता, (9) अनवराग्र-शून्यता, (10) प्रकृतिशून्यता, (11) सर्वधर्मशून्यता, (12) स्वलक्षणशून्यता, (13) अनुप-लंभशून्यता, (14) स्वभावशून्यता, (15) अभावशून्यता तथा (16) अभावस्वभावशून्यता। इसके बाद आठों महाभूतों के नाम गिनाये हैं, जो पहले भी गिनाये जा चुके हैं—(1) अपराजित, (2) अजित, (3) पूरण, (4) आपूरण, (5) प्रचण्ड, (6) श्मशानाधिपति कुलेश्वर, (7) भूतेश तथा (8) किङ्करोत्तम।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि नागिनीसाधन से पूर्व नवम: पटल: यह शीर्षक दिया है, किन्तु इसके बाद षट्‌किन्नरी साधन, क्रोधराज मण्डल, अष्टभूतिनीसाधन, किङ्करसाधन, सिद्धिसाधनविधि, अष्टमहाभूतों की मुद्राएँ, सौम्यसाधनविधि, मारणविधि, विसर्जन मन्त्र, ये आठ प्रकरण आये हैं, इनकी अलग-अलग अवान्तर पुष्पिकाएँ भी हैं, किन्तु कहीं नवम पटल की समाप्ति का संकेत नहीं है। षोडश शून्यता और आठ महाभूतों के नाम गिनाकर **इति भूतडामरतन्त्रराज: समाप्त:** कहकर समाप्त किया है। यही भोट मान्यता वाले ग्रन्थ का संक्षिप्त परिचय है।

•

'इहैव जन्मनि बुद्धत्व' की अवधारणा

—बनारसी लाल—

[बौद्ध परम्परा के अनुसार प्राप्तव्य पद बुद्धत्व या निर्वाण है। पारमितानय के अनुसार इसे प्राप्त करने में असंख्येय कल्पों में संभार सञ्चय करना पड़ता है तभी इसकी प्राप्ति होती है। वहीं बौद्ध तन्त्रों के अनुसार इस पद को 'इहैव जन्मनि' अर्थात् इसी जन्म में प्राप्त किया जा सकता है। प्रस्तुत निबन्ध में बौद्ध तन्त्रों के 'इहैव जन्मनि बुद्धत्व' की अवधारणा की समीक्षा की गई है। इससे स्पष्ट होता है कि बौद्धतन्त्रों के अनुसार इसका तात्पर्य मनुष्य जीवन से है, अन्य देव आदि गतियों से नहीं। इहैव जन्मनि का यह भी तात्पर्य है कि इस प्राप्तव्य पद को सत्त्व इसी एक जन्म से लेकर सात या सोलह जन्मों में प्राप्त कर लेते हैं। यह प्राप्ति साधक (सत्त्व) के इन्द्रिय की मृदु, मध्यम एवं तीक्ष्णता पर निर्भर करता है।]

भारतीय दर्शनों एवं अध्यात्म शास्त्रों का एक मात्र उद्देश्य या प्रयोजन है दुःख-मुक्ति, मोक्ष या निर्वाण। बौद्धों के सन्दर्भ में बुद्धत्व प्राप्ति भी एक लक्ष्य है। बौद्ध तन्त्रों की घोषणा है कि यह लक्ष्य इसी जन्म में प्राप्त किया जा सकता है। न्यायबिन्दु के प्रारम्भ में धर्मकीर्ति कहते हैं, ''सम्यग्ज्ञानपूर्विका सर्वपुरुषार्थसिद्धिरिति'' अर्थात् सम्यग् ज्ञान के पूर्व में होने पर सभी पुरुषार्थों की सिद्धि होती है। पुरुषार्थ क्या है और उसकी सिद्धि ज्ञान के पूर्व होने से कैसे सिद्ध होती है? यह पृथक् से विवेचनीय विषय है। परन्तु भारतीय अध्यात्मशास्त्रों के इस सन्दर्भ में अभ्युदय और निःश्रेयस् का उल्लेख मिलता है, जिन्हें पुरुषार्थ की श्रेणी में रखा जा सकता है। अभ्युदय का तात्पर्य लौकिक अभ्युदय या उन्नति से है तथा निःश्रेयस् का अर्थ है मोक्ष या निर्वाण। निःश्रेयस् की प्राप्ति के लिए भी प्रथमतः अभ्युदय की प्राप्ति एवं अभ्युदय धर्मों का पालन आवश्यक है।

बुद्ध के उपदेशों के आधार पर सामान्यतः दो प्रकार का यान भेद स्वीकार किया जाता है, श्रावकयान तथा महायान। यह यान भेद पुद्गलों के उद्देश्य एवं आशय के अनुसार प्राप्तव्य फल के भेद से हुआ है। महायान के पुनः दो भेद हैं पारमितानय अर्थात् बोधिसत्त्वयान तथा मन्त्रनय अर्थात् वज्रयान। इनमें प्राप्तव्य में उद्देश्यगत कोई भेद नहीं है मात्र उद्देश्य की प्राप्ति में साधनगत भेद है। मन्त्रनय के पुनः क्रियातन्त्र, चर्यातन्त्र, योगतन्त्र और अनुत्तरयोगतन्त्र नामक चार भेद हैं। अनुत्तरयोगतन्त्र पुनः मातृतन्त्र, पितृतन्त्र (प्रज्ञातन्त्र, उपायतन्त्र) एवं अद्वयतन्त्र में विभाजित है।

तन्त्रशास्त्र भारतीय अध्यात्मशास्त्र एवं साधना का परमोत्कृष्ट रूप है। बौद्धतन्त्र एवं दर्शन दोनों का साध्य एक ही है मात्र मार्गगत भेद वर्णित है। फिर भी इन्हें मन्त्रनय

और पारमितानय में विभाजित किया गया है। इस विभाजन के अनेक कारण हैं, उन्हें युक्ति और आगम द्वारा सिद्ध किया जाता है।[1] तन्त्रों में साधना के माध्यम से निर्वाण या बुद्धत्व अतिशीघ्र प्राप्त होता है। इसीलिए इसमें इहैव जन्मनि को बारम्बार उद्घोषित किया है। वहीं पारमितानय का अनुसरण करते हुए असंख्येय जन्म एवं अनेक कल्पों में क्रमशः पुण्य एवं ज्ञानसम्भार का सञ्चय करते हुए पुद्गल बुद्धत्व या निर्वाण को प्राप्त करता है।

पारमितानय से मन्त्रनय की विशिष्टता के सन्दर्भ में नयत्रयप्रदीप (तो० 3707) का यह वचन अद्वयवज्र के तत्त्वरत्नावली में उद्धृत किया गया है—

एकार्थत्वेऽप्यसंमोहाद् बहूपायाददुष्करात् ।
तीक्ष्णेन्द्रियाधिकाराच्च मन्त्रशास्त्रं विशिष्यते ॥

अर्थात् मन्त्रनय एवं पारमितानय एकार्थक होने पर भी असंमोह, उपाय की अधिकता, अदुष्करचर्या और तीक्ष्णेन्द्रिय वालों के अधिकार होने से मन्त्रशास्त्र विशिष्ट है। इन्हीं विशेषताओं के कारण इहैव जन्मनि बुद्धत्व प्राप्ति इस मार्ग द्वारा सम्भव है।

इसीलिए गुह्यसमाजतन्त्र में कहा है जो दुष्कर नियमों में बंधकर, तीव्र नियमों के संधान से भी सिद्ध नहीं होता है, वह इस मन्त्रनय में सभी कामों अर्थात् कामगुणों के उपभोग करते हुए अतिशीघ्र सिद्ध होता है।

दुष्करैर्नियमैस्तीव्रैः सेव्यमानो न सिद्ध्यति ।
सर्वकामोपभोगैस्तु सेवयंश्चाशु सिद्ध्यति ॥[2]

प्राप्तव्य पद

इहैव जन्मनि या एक ही जन्म में तन्त्र द्वारा प्राप्तव्य पद को बौद्धतन्त्र शास्त्रों में भिन्न-भिन्न नामों से बतलाया गया है। पद्मवज्र विरचित गुह्यसिद्धि में प्राप्तव्य पद को सिद्धि[3] कहा गया है—"नैकजन्मान्तरे सिद्धिरस्मिन्नेकेन कीर्तिता"[4] तथा "अनेन जन्मना सिद्धिं यः कश्चिदभिवाञ्छति"[5] अर्थात् पारमितानयादि में जिस सिद्धि को अनेक जन्मान्तरों में प्राप्त

---

1. 'पारमितानय एवं मन्त्रनय में मौलिक अन्तर'- धी: 31, पृ० 89-94
2. गुह्यसमाजतन्त्र - 7.3
3. सिद्धि से यहाँ बुद्धत्व ही अभिप्रेत है। अणिमा, लघिमा आदि अष्टसिद्धि इसमें सम्मिलित नहीं हैं। चक्रसंवरविवृत्ति में कहा है—"सम्यक्सिद्धिः सम्बोधिरिति", (भाग-2, पृ० 575)।
4. गुह्यसिद्धि - 4.58
5. गुह्यसिद्धि - 5.6

किया जाता है, वह इस मन्त्रनय में एक ही जीवन में प्राप्त होता है, उसी प्रकार—इसी जन्म में ही जो कोई सिद्धि की इच्छा करता है। तन्त्रों के भिन्नता के आधार पर प्राप्तव्य पद का नाम भी भिन्न-भिन्न है। यथा चण्डमहारोषणतन्त्र के सन्दर्भ में इसे "चण्डरोषणपद" कहा गया है "चण्डरोषणपदं धत्ते जन्मन्यत्रैव योगवित्"[1]। ज्ञानसिद्धि में तन्त्र की इस विशेषता को बतलाते हुए कहा है—"ते स्पृशन्ति परां बोधिं जन्मनीहैव साधकाः"[2] अर्थात् वे साधक परम श्रेष्ठ बोधि को इसी जन्म में अनुभव करते हैं। यहाँ इस प्राप्तव्य पद को "बोधि" कहा गया है। अचिन्त्याद्वयक्रमोपदेश में इस पद को "बुद्धत्व" कहा है "बुद्धत्वमिह जन्मनि"[3] अर्थात् इसी जन्म में बुद्धत्व प्राप्त होगा। वहीं पुनः कहा है योगी इसी जन्म में 'बुद्धत्व' को शीघ्र प्राप्त करता है "बुद्धत्वं लभ्यते सद्यो जन्मनीहैव योगिना"[4]। विमलप्रभा के अनुसार भी इसी जन्म में बुद्धत्व फल मिलता है "इह जन्मनि बुद्धत्वफलमिति"।[5] क्रियातन्त्र का प्रसिद्ध ग्रन्थ मञ्जुश्रीमूलकल्प के अनुसार इस प्राप्तव्य पद को 'सिद्धि' कहा है "जन्मे सिद्धिः स्यादिह"[6] अर्थात् इस जन्म में सिद्धि होगा। इतना ही नहीं इसी जन्म में सत्त्व मन्त्र और देवता को भी सिद्ध कर लेते हैं "इहैव जन्मनि सत्त्वा सिध्यन्ते मन्त्रदेवता"।[7] गुह्यसमाजतन्त्र की घोषणा है जिसे बोधिसत्त्व गंगा नदी की बालू के समान असंख्येय कल्पों में भी प्राप्त नहीं करते, वहीं इसमें इसी जन्म में बोधिसत्त्व बुद्ध संज्ञा को प्राप्त होते हैं[8]। तदनुसार यहाँ प्राप्तव्य पद को 'बुद्ध' कहा गया है। वैरोचनाभिसम्बोधितन्त्र के अनुसार यह पद अनुत्तरसम्यक्सम्बोधि है[9]। आर्य नागार्जुन रचित पञ्चक्रम के अनुत्तरसन्धि नामक परिच्छेद में इसे 'सर्वज्ञ' पद कहा है।

सम्प्राप्य ह्यभिसम्बोधिं शुद्धावासमुपागतः ।
बुद्धक्षेत्रेष्ववैवर्ती सर्वज्ञ इह जन्मनि ॥[10]

1. चण्डमहारोषणतन्त्र - छठा पटल
2. ज्ञानसिद्धि - 1.3-4
3. अचिन्त्याद्वयक्रमोपदेश - 65
4. अचिन्त्याद्वयक्रमोपदेश - 86
5. विमलप्रभा, भाग-1, पृ० 12
6. मञ्जुश्रीमूलकल्प, पृ० 124
7. वही, पृ० 239
8. यदनेकैर्गङ्गानदीबालुकासमैः कल्पैः घटयन्ता व्यायच्छन्तो बोधिसत्त्वा बोधिं न प्राप्नुवन्ति। तदिहैव जन्मनि बोधिसत्त्वः सर्वतथागतानां बुद्ध इति संज्ञां गच्छति। (गु० स०, 17वाँ पटल, पृ० 116)
9. "धीः" अंक 31, पृ० 128
10. अनुत्तरसन्धि - 80

वज्रशेखरतन्त्र में कहा है—"यदि योगी प्रयत्न करे तो इसी जन्म में निर्वाण प्राप्त करेगा"।[1]

इस प्रकार यद्यपि अनेक तन्त्रों में इसे सिद्धि, बुद्धत्व, बुद्ध, निर्वाण इत्यादि कहा गया है, फिर भी सभी का अभिप्राय बुद्धत्व या निर्वाण है तथा ये इस सन्दर्भ में पर्यायवाची शब्द हैं।

इहैव जन्मनि का तात्पर्य

"इहैव जन्मनि" इससे तीन प्रकार के प्रश्न उठते हैं। क्या इहैव का तात्पर्य इसी जन्म अर्थात् वर्तमान में प्राप्त जन्म से है या एकाधिक जन्मों से? दूसरा प्रश्न है, "इहैव जन्मनि" का तात्पर्य इस मनुष्य जीवन से या अन्य गतियों जैसे देवादि से भी है? तीसरा प्रश्न है, तन्त्रमार्ग की साधना से यदि एक ही जन्म में बुद्धत्व प्राप्त होता हो तो क्या कर्म एवं कर्मफलों का व्यतिक्रम नहीं होगा?

प्रश्न है मनुष्य तन्त्रयान में इसी एक जन्म में बुद्धत्व प्राप्त करता है या एकाधिक जन्मों में? बौद्धतन्त्रों में जो "इहैव जन्मनि" का सन्दर्भ है उसका तात्पर्य क्या है? तन्त्रशास्त्र के ग्रन्थों के आलोडन से यह स्पष्टत: प्रतीत होता है कि यहाँ जो "इहैव जन्मनि" कहा है उसकी सीमा इसी एक जीवन तक सीमित नहीं है। बौद्धतन्त्रों के अनुसार प्राप्तव्य पद बोधि या बुद्धत्व है, वह तन्त्र साधकों के इन्द्रियों के क्षमता पर निर्भर करता है। फिर भी तन्त्रों में इसकी व्यवस्था दी है कि इन्द्रियों की तीक्ष्णता आदि के आधार पर सत्त्व एक से सोलह जीवन पर्यन्त में इसे प्राप्त कर लेते हैं। मनुष्य गति में सत्त्व मृदु, मध्य और तीक्ष्णेन्द्रिय वाले होते हैं। तन्त्र ग्रन्थों में उल्लेख है कि तीक्ष्णेन्द्रिय साधक इसी एक मनुष्य जीवन में बुद्धत्व प्राप्त कर लेता है। मध्यमेन्द्रिय साधक सात जन्मों में और मृदु-इन्द्रिय साधक अधिक से अधिक सोलह जन्मों में इस सिद्धि या बुद्धत्व को प्राप्त करता है। आचार्य बुस्तोन ने वज्रशेखरतन्त्र[2] का वचन उद्धृत किया है जिसमें कहा है—"प्रमुदिता भूमि प्राप्त कर, वज्रपद प्राप्ति में सन्देह नहीं। अन्यथा दर्शन (मार्ग) मात्र से भी सोलह जन्मों में निर्वाण प्राप्त होगा।" वहीं उन्होंने महायोगतन्त्र को भी उद्धृत किया है, तदनुसार "तीक्ष्णेन्द्रिय और अधिक वीर्यवान् को इसी जन्म में, मध्यम इन्द्रिय वाले को मृत्युकाल या अन्तराभव में और मन्द इन्द्रिय वाले को सात या सोलह जन्मों में बुद्धत्व प्राप्त होता है"। कालचक्रतन्त्र की टीका विमलप्रभा में भी कहा है[3]—"सप्तजन्मपर्यन्तेना-

1. "धी:" अंक 31, पृ० 128
2. "धी:" अंक 31, पृ० 129
3. विमलप्रभा, भाग-3, पृ० 40

वीर्यवानपि सन् ज्ञानमभावयन्निति नियम:" अर्थात् सात जन्म पर्यन्त अवीर्यवान् साधक भी इस तन्त्र का अनुगमन करते हुए बुद्धत्व को प्राप्त कर लेता है। ऐसा प्रतीत होता है कि कालचक्रानुसार अधिक से अधिक सात जन्मों में ही अवश्य बुद्धत्व प्राप्त हो जाता है। वहीं आचार्य बुस्तोन पुन: वज्रशेखरतन्त्र को उद्धृत करते हैं, जहाँ कहा है—"सभी जन्म-जन्मान्तरों में वज्री अभ्यासरत रहता है तो सोलह जन्मों के अन्त में शान्त बुद्धत्व को अवश्य प्राप्त करेगा"। गुह्यकोश नामक ग्रन्थ को भी उद्धृत किया है जिसमें कहा गया है कि "ठीक से अभिषेक मिलने पर जन्म-जन्मान्तरों तक के लिए अभिषेक मिल जाता है और सात जन्मों में बिना भावना किए भी बुद्धत्व प्राप्त हो जाता है।" इस प्रकार बौद्धतन्त्रों के अभ्यास करने से इस मन्त्रनय में तीक्ष्ण इन्द्रिय वाले एक ही जीवन में, मध्यमेन्द्रिय साधक मृत्यु के समय या मृत्यु के बाद अन्तराभव में या सात जन्मों में और मृदु इन्द्रिय साधक अधिक से अधिक सोलह जन्मों में इस बुद्धत्व को अवश्य प्राप्त कर लेता है।

उपर्युक्त तथ्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि जब बौद्धतन्त्र ग्रन्थों में इहैव जन्मनि का सन्दर्भ आता है, तब उससे उपर्युक्त तथ्यों को दृष्टि में रखकर एक जन्म से अविच्छिन्न सोलह मनुष्य जन्मों तक का सन्दर्भ ग्रहण करना चाहिए।

दूसरा प्रश्न है क्या "इहैव जन्मनि" से मात्र मनुष्य जीवन इंगित है या देव असुर आदि अन्य गतियाँ भी। इस सन्दर्भ में बौद्धतन्त्रों में अति स्पष्ट व्याख्या है। कालचक्रतन्त्र टीका विमलप्रभा में कहा है—"इह जन्मनि बुद्धत्वफलमिति। इह जन्मनि मनुष्यजन्मनि बुद्धत्वफलप्रदं तन्त्रराजम्, न पुनर्देवादिपञ्चगतिषु जन्मनि"। अर्थात् इसी जन्म में बुद्धत्व फल प्राप्त होगा, इसका तात्पर्य इसी मनुष्य जीवन से है, यह तन्त्रराज इसी जन्म में बुद्धत्व फल देने वाला है अन्य देवादि जो पाँच गतियाँ हैं, उनमें नहीं। आचार्य बुस्तोन[1] अपने ग्रन्थ में वज्रगर्भ (तन्त्र) की टीका का भी उद्धरण देते हैं, जिसमें कहा गया है कि "इसी जन्म में बुद्धत्व प्रदान करने का तात्पर्य है बार-बार मनुष्य जन्म लेकर अर्थात् अन्य गतियों से बाधित न होते हुए अविच्छिन्न रूप से मनुष्य जन्म प्राप्त कर सिद्धि प्राप्त करता है। देव और असुर आदि गतियों में सिद्धि नहीं मिलती है"। वज्रशेखरतन्त्र में भी कहा गया है—"पृथक्जन (मनुष्य) द्वारा ही बुद्धत्व सिद्ध होता है अन्य (योनियों) में नहीं"।[2]

यह सत्य है कि बुद्धत्व देवादि अन्य गतियों के प्राणियों को प्राप्त नहीं होता है। क्योंकि इन गतियों में सद्धर्म की साधना का अवसर नहीं मिलता है, अत: इन्हें अक्षण अर्थात् प्रतिकूल अवस्था कहा जाता है—

---

1. ग्युद दे चिहि नम-पर जग-पा-ग्यस्-पा, पत्र-13
2. "धी:" अंक 31, पृ० 129

नरकप्रेततिर्यञ्चो म्लेच्छा दीर्घायुषोऽमराः ।
मिथ्यादृग्बुद्धकान्तारौ मूकताष्टाविहाक्षणाः ॥[1]

इसीलिए बौद्ध मतानुसार देवयोनि को मनुष्ययोनि से हीन माना जाता है। भगवान् बुद्ध का प्रसिद्ध वचन है—"चरथ भिक्खवे चारिकं बहुजनहिताय........देवानं मनुष्याणां ...." अर्थात् "देव एवं मनुष्यों के आत्यन्तिक दुःख मुक्ति के लिए भिक्षुओं चारिका करो.......।" क्योंकि देवों के भी च्युति, पर्येष्टि इत्यादि दुःख होते हैं और उन्हें भी जब बुद्धत्व प्राप्त करना होता है तब उन्हें इसी मनुष्य योनि में जन्म लेना पड़ता है, फिर अन्य असुर, प्रेत आदि गतियों की तो बात ही क्या। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि तन्त्रों की जो घोषणा है 'इहैव जन्मनि' बुद्धत्व का उसका तात्पर्य मनुष्य जीवन से ही अभिप्रेत है।

बौद्धतन्त्रों की यह मान्यता है कि इहैव जन्मनि निर्वाण या बुद्धत्व सम्भव है। जैसे कि पहले ही बतलाया जा चुका है कि बौद्धतन्त्रों के चार मुख्य भेद हैं। तो प्रश्न है कि चारों तन्त्रों के अनुगामी साधकों को क्या इहैव जन्मनि बुद्धत्व सम्भव है? क्या यह केवल अनुत्तरतन्त्रों के सन्दर्भ में प्रतिपादित है और निम्नतन्त्रों में बुद्धत्व प्राप्ति के लिए पारमितानय की तरह असंख्येय कल्प लगते हैं? बौद्धतन्त्र ग्रन्थों के सन्दर्भ एवं भोट आचार्यों के विवेचन से ऐसा प्रतीत नहीं होता। इनके आधार पर कहा जा सकता है कि इस सन्दर्भ में क्रिया आदि निम्नतन्त्र और अनुत्तरयोगतन्त्र में विशेष भेद नहीं है। इहैव जन्मनि सभी का प्रधान स्वर है। क्रियातन्त्र का प्रमुख आगम ग्रन्थ मञ्जुश्रीमूलकल्प में इसे स्पष्ट रूप से कहा है—"जन्मे सिद्धिः स्यादिह"[2] अर्थात् इसी जन्म में सिद्धि होगी और इसी जन्म में सत्त्व मन्त्र और देवता को सिद्ध करेंगे "इहैव जन्मनि सत्त्वा सिध्यन्ते मन्त्रदेवता"[3]। आचार्य बुस्तोन[4] ने इस सन्दर्भ में चर्यातन्त्र के प्रसिद्ध आगम ग्रन्थ वैरोचनाभिसम्बोधितन्त्र को भी उद्धृत किया है, जिसमें कहा है कि—"बोधिसत्त्व मन्त्र के द्वारा बोधिचर्या से इसी जन्म में अनुत्तरसम्यक्सम्बोधि को प्राप्त करेंगे।" इसी प्रकार उन्होंने योगतन्त्र के वज्रशेखरतन्त्र के वचन को भी उद्धृत किया है—

"असंख्येय कल्पों में प्राप्त होने वाली उत्तम पारमिता की भूमि,
जिसे उच्च गुह्यता प्राप्त हो उसे प्रमुदिता भूमि सिद्ध होगी।
यदि योगी प्रयत्न करे तो इसी जन्म में निर्वाण प्राप्त होगा।"

---

1. बोधिचर्यावतारपञ्जिका, पृ० 5
2. आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प, पृ० 124
3. वही, पृ० 339
4. धीः अंक, पृ० 128

अत: यह कहा जा सकता है कि चारों तन्त्रों के अनुसार साधना करने पर भी इसी जन्म में बुद्धत्व प्राप्त किया जा सकता है, इसमें चारों तन्त्रों में कोई भेद नहीं है। बौद्धतन्त्रों में सामान्य साधकों की तो बात ही क्या, यहाँ तक कि जो चाण्डाल और वेणुकार हैं और जो पाँच आनन्तर्य कर्म अथवा मातृवध और पितृवध आदि कर्म करने वाले हैं वह भी इस जन्म में बुद्ध हो जाते हैं।

चण्डालवेणुकाराद्याः पञ्चानन्तर्यकारिणः ।
जन्मनीहैव बुद्धाः स्युर्मन्त्रचर्यानुचारिणः ॥[1]

इसका यह भी अभिप्राय नहीं कि जो भी साधक तन्त्रयान का अर्थात् मन्त्रनय का अनुगमन करे उसे इसी जन्म में बुद्धत्व प्राप्त ही हो जायेगा। इसके लिए साधक का वीर्यवान् होना भी अत्यावश्यक है। तैंतीस असंख्येय कल्पों एवं दस असंख्येय कल्पों में क्रमश: श्रावक एवं प्रत्येकबुद्ध सम्भारों को सम्पन्न कर पुन: महायान में प्रवेश कर तीन असंख्येय कल्पों में बुद्धत्व प्राप्त करते हैं। पारमितानय में भी जो साधक अनुत्पाद धर्मक्षान्ति को प्राप्त कर लेते हैं, वह चाहे तो सात दिनों के भीतर अभिसम्बोधि प्राप्त कर सकते हैं; क्योंकि अनुत्पाद धर्मक्षान्ति प्राप्त करने वाला आठवीं भूमि प्राप्त पुद्गल होता है। उन्हें भी दो असंख्येय कल्पों का सम्भार सम्पन्न करना पड़ता है। तन्त्र के माध्यम से तीक्ष्णेन्द्रिय सत्त्व असंख्येय कल्पों का सम्भार अत्यन्त शीघ्र सम्पन्न कर लेता है।

क्रिया, चर्या आदि तन्त्रों में कहा है, पुद्गल द्रव्य एवं मन्त्रों के आधार पर अतिशीघ्र विद्याधरत्व की सिद्धि प्राप्त कर लेते हैं। आचार्य बुस्तोन[2] इस सन्दर्भ में वैरोचनाभिसम्बोधितन्त्र का वचन उद्धृत करते हैं जहाँ कहा है—"योगी मन से प्रसन्न होकर, दीर्घायु प्राप्त कर; पञ्चकामगुणों के द्वारा आनन्द का भोग कर, बुद्धों की पूजा के माध्यम से यह अलौकिक मार्ग सिद्ध कर लेता है"। आचार्य बुस्तोन ने सर्वरहस्ततन्त्र टीका का जो उद्धरण दिया है उससे भी विदित पड़ता है कि पारमितानय और क्रिया एवं चर्यातन्त्र में जिस किसी भी हेतुप्रत्यय से योगी बुद्धत्व प्राप्त करता है, वह अत्यन्त दीर्घकाल में सिद्ध होता है, वहीं योगतन्त्र में हेतु और फल का योग होने से अतिशीघ्र बुद्धत्व प्राप्त होता है। इस हेतु और फल में समस्त महायान का संग्रह हो जाता है।

---

1. उद्धृत-वि० प्र०, भाग-1, पृ० 15,
   द्र०- चण्डालवेणुकाराद्या मारणार्थार्थचिन्तकाः ।
   सिद्ध्यन्त्यग्रययानेऽस्मिन् महायाने ह्यनुत्तरे ॥ (गु० स० 5.3)
2. "धी:" अंक 31, पृ० 129

'इहैव जन्मनि' मुक्ति अर्थात् एक ही जीवन में मोक्ष प्राप्ति सम्बन्धी विचार केवल बौद्धतन्त्रों में ही नहीं, अपितु शैवादि तन्त्रों में भी स्वीकृत है। इस सम्बन्ध में किञ्चित् निर्देश प्रो० व्रजवल्लभ द्विवेदी ने "बौद्ध-शैव-शाक्त तन्त्रों में तुलनात्मक सामग्री" धी: (अंक 1, पृ० 102-103) तथा गुह्यादि-अष्टसिद्धिसंग्रह की भूमिका (पृ० 37-38) में किया है।

उपर्युक्त सन्दर्भ में शैवादि तन्त्रों का भी सम्यक् विवेचन अपेक्षित है तथा जो मान्यता बौद्धतन्त्रों की है, उससे किन अर्थों में साम्य एवं भिन्न है इसकी भी समीक्षा होनी चाहिए। सम्प्रति दिशा-निर्देश मात्र किया जा रहा है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची :

अचिन्त्याद्वयक्रमोपदेश - (गुह्यादि-अष्टसिद्धिसंग्रह)- दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थ शोध अनुभाग, केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ, 1988

आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प - पी० एल० वैद्य, मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा, 1964

गुह्यसमाजतन्त्र - एस० बागची, मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा, 1965

ग्युद-दे-ची-हि नम-जग - बुस्तोन, The Collected Works of Bu-ston, part-14, 15. PA, BA ed. Dr. Lokesh Chandra, International Academy of Indian Culture, New Delhi, 1969.

गुह्यसिद्धि - (द्र०-गुह्यादि-अष्टसिद्धिसंग्रह)

गुह्यादि-अष्टसिद्धिसंग्रह - केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ, 1988

चक्रसंवरतन्त्र - 2 भाग, केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ, 2002

चण्डमहारोषणतन्त्र - जार्ज, एस० क्रिस्टोफर, न्यू हेवन, अमेरिकन ओरियन्टल सोसायटी, 1974

ज्ञानसिद्धि - (द्र०- गुह्यादि-अष्टसिद्धिसंग्रह)

धी: - दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थ शोध पत्रिका, के० उ० ति० शि० सं०, सारनाथ।

पञ्चक्रम - डी लॉ वॉली पुंसे, युनिवर्सिटे गेंड, 1896

प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि - (द्र०- गुह्यादि-अष्टसिद्धिसंग्रह)

विमलप्रभा - (तीन भाग), केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ, 1986-1994

•

आचार्य चोंखापा विरचित

परमक्षेत्रद्वारोद्घाटन नामक सुखावती क्षेत्र जन्मग्रहण-प्रणिधान

—ज्ञलछेन नमडोल—

[आचार्य चोंखापा द्वारा विरचित सुप्रसिद्ध एवं अत्यधिक अधिष्ठान से युक्त प्रस्तुत 'संक्षिप्त प्रणिधान' आचार्य द्वारा विरचित 'परमक्षेत्रद्वारोद्घाटन नाम सुखावतीक्षेत्र जन्मग्रहण-प्रणिधान' इस विस्तृत ग्रन्थ का अंश है, जिसे उन्होंने 'ल्ह-ल्दन्-स्मोन्-लम्-छेन्-मो' नामक महाप्रणिधानोत्सव के अवसर पर उसकी आवश्यकता को देखकर उक्त विस्तृत ग्रन्थ से कई भागों को अलग करके तैयार किया था। इस ग्रन्थ में अमिताभ बुद्ध के सुखावती क्षेत्र के सत्त्वों और भाजनलोक के व्यूह का स्वरूप और उनके अचिन्त्य विशिष्ट गुणों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है तथा इन गुणों पर आलम्बित दृढ़ श्रद्धा के माध्यम से उस क्षेत्र में जन्मग्रहण आदि के लिए लगभग चौंतीस (34) प्रणिधानों के मर्मस्थलों का साङ्गोपाङ्ग निरूपण किया गया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ और आर्य मैत्रेयनाथ स्तोत्र 'रत्नप्रकाशप्रदीप' इन दोनों ग्रन्थों को पहले रचने के लिए आर्य मञ्जुश्री ने उन्हें प्रेरित किया तथा बाद में उनके अभिधेयों के स्वरूप एवं क्रम आदि का भी (उन्होंने) साक्षात् निर्देश किया। फलतः आचार्य चोंखापा ने समुचित शब्दसंयोजन द्वारा उन्हें रचनाबद्ध किया। अतः इन ग्रन्थों का वास्तव में अत्यधिक महत्त्व प्रमाणित होता है। यहाँ उक्त प्रणिधान ग्रन्थ के अनुवाद, सम्पादन एवं संक्षिप्त परिचय आदि कार्य सम्पन्न करके प्रस्तुत किये जा रहे हैं।]

ग्रन्थ का संक्षिप्त परिचय

यह संक्षिप्त प्रणिधान ग्रन्थ आचार्य चोंखापा द्वारा विरचित 'परमक्षेत्रद्वारोद्घाटन नामक सुखावती क्षेत्र जन्मग्रहण-प्रणिधान' नाम से प्रसिद्ध विस्तृत ग्रन्थ का अंश है, जिसे उन्होंने पृथक् ढङ्ग से व्यवस्थापित किया है। इसे भी आचार्य चोंखापा ने स्वयं 'ल्ह-दन्-स्मोन्-लम्-छेन्-मो' नामक महाप्रणिधान उत्सव के अवसर पर पूर्व निर्मित उक्त विस्तृत ग्रन्थ से कई भागों को अलग करके सामान्य पूजा-पाठ के लिए तैयार किया है।

विस्तृत ग्रन्थ में तो सुखावती क्षेत्र के सत्त्वलोक और भाजनलोक के व्यूह का प्रारूप और किन अचिन्तनीय विशिष्ट गुणों से यह क्षेत्र युक्त है—इन सबका विस्तारपूर्वक वर्णन है। इसके बाद इन गुणों पर अवलम्बित दृढ़ श्रद्धा के माध्यम से किन प्रणिधान योग्य

मर्मस्थलों को सिद्ध करने के लिए किस प्रकार प्रणिधान किया जाता है—इसकी प्रक्रिया का निरूपण किया गया है। इसके बाद आचार्य चोंखापा ने स्वयं किस प्रकार के बुद्धक्षेत्र में बुद्धत्व प्राप्त करना है और अपने भावी बुद्धक्षेत्र का व्यूहन किस प्रकार होना है—इन सब पर प्रकाश डाला है।

उक्त (सुखावती) क्षेत्र के गुणों के विषय में वर्णन करते समय उसके बाह्य भाजन के व्यूहन गुणों एवं अभ्यन्तर सत्त्वों के सामान्य गुणों का और विशेष रूप से उस परम क्षेत्र के भाजन और सत्त्वों के हृदयगर्भ स्वरूप उस क्षेत्र के मध्य में स्थित महाबोधिवृक्षराज के स्वरूप का वर्णन है, जिसकी ऊँचाई अनेक शतयोजन होना तथा शाखा और पार्श्व का परिमाण सौ योजन पर्यन्त चारों ओर फैला हुआ होना एवं अचिन्त्य, आश्चर्यजनक विशेषणों से अलङ्कृत होना आदि का वर्णन है। उस प्रकार के महाबोधिवृक्ष के समक्ष भगवान् तथागत सम्यक्सम्बुद्ध अमिताभ बुद्ध अपने दो प्रमुख शिष्यों और अपरिमित परिवार मण्डल के मध्य स्थित होकर परम गम्भीर और उदार सद्धर्म की देशना करते हुए विराजमान है—ऐसा वर्णन किया गया है।

इस प्रकार उस अद्भुत एवं पवित्र क्षेत्र के गुणों एवं व्यूहों का साक्षात् स्मरण करते हुए, विशेषतः सपरिवार तथागत अमिताभ बुद्ध के प्रति तीव्र एवं दृढ़ श्रद्धा से उस क्षेत्र में शीघ्रातिशीघ्र उत्पाद हो और उस महानायक अमिताभ बुद्ध के साक्षात् कल्याणमित्र होने से उनका कभी भी (सदा) वियोग न हो, इत्यादि ऐहिक और पारलौकिक अनेकविध गम्भीर एवं उदार प्रणिधानों के मर्मस्थलों के सम्यक्तया सिद्ध हो पाने के लिए विशाल प्रार्थना एवं प्रणिधान की प्रक्रिया का ग्रन्थ में विस्तारपूर्वक प्रदर्शन किया गया है।

ग्रन्थरचना की प्रक्रिया

आचार्य चोंखापा जी ने वोल्-खा प्रान्त के 'वोल्-खा-जिङ्-जी' नामक स्थान में जाकर 'जिङ्-जी-जो-वो-जम्पा' अर्थात् उस स्थान के विहार में विराजमान आर्य मैत्रेयनाथ के प्रति जब महापूजा की और अनेक प्रणिधान किये, उस समय भट्टारक मञ्जुश्री ने जैसा आचार्य चोंखापा को निर्देश दिया, तदनुसार उन्होंने जिङ्-जी विहार अर्थात् आश्रय और उसमें स्थित आश्रित (अर्थात् देवताओं की मूर्ति, थङ्का आदि) की मरम्मत की और उस विहार में विद्यमान इष्ट देवताओं की पूजा की तो उनमें से अनेक देवताओं का साक्षात्कार आदि अनेक विशिष्ट आभास अनुभूत हुए तथा स्वकीय आध्यात्मिक सन्तति में

अनेकानेक अधिगम गुणों के उदय का अनुभव हुआ। उसी समय भट्टारक मञ्जुश्री ने आचार्य चोंखापा को आर्य मैत्रेयनाथ के स्तोत्र एवं सुखावती क्षेत्र के प्रणिधान नामक दो ग्रन्थों को रचने के लिए प्रेरित किया।

जैसे कि 'खस्-डुब्-जे' द्वारा विरचित आचार्य चोंखापा जी के गुह्य वृत्तान्त में कहा गया है[1]—"उस समय आर्य भट्टारक (मञ्जुश्री) के वचन के अनुसार दश दिगवस्थित बुद्धों द्वारा महाप्रभा-अभिषेक देने की प्रक्रिया को आधार बनाकर (आचार्य चोंखापा को) आर्य मैत्रेयनाथ के स्तोत्र रचने के लिए कहा गया। तदनुसार उन्होंने आर्य मैत्रेयनाथ के स्तोत्र **रत्नप्रकाशकप्रदीप** की रचना की। उसी प्रकार **सुखावती क्षेत्र में जन्मग्रहण-प्रणिधान परम क्षेत्र द्वारोद्घाटन** की रचना की तथा स्वयं भविष्य में (बुद्ध के) निर्माणकाय के रूप में बुद्धकृत्य प्रदर्शित करने के क्षेत्र के परिग्रहण के प्रणिधान के लिए भी मञ्जुश्री ने प्रेरित किया तथा (स्तोत्र और प्रणिधान) के अर्थ का स्वरूप और क्रम आदि भी जैसे मञ्जुश्री ने कहा, तदनुरूप मैंने (चोंखापा) ने शब्दरचना की है—ऐसा कहा गया है।"

इसी प्रकार शाक्यभिक्षु टशी पल्-दन (मङ्गलश्री) द्वारा विरचित आचार्य चोंखापा के **गुह्यवृत्तान्त प्रार्थना** नामक ग्रन्थ में भी कहा गया है[2], तथा हि—"सुखावती में उत्पाद के लिए प्रणिधान तथा अजितनाथ के सम्यक् स्तोत्र (इन दोनों ग्रन्थों) के अर्थ के स्वरूप एवं क्रम आर्य मञ्जुश्री द्वारा स्पष्ट रूप से कहे जाने पर शब्दसंयोजन द्वारा सम्यक् रूप से रचनाबद्ध (आचार्य चोंखापा द्वारा) किया गया है।" इन वचनों (के प्रमाण) से प्रस्तुत प्रणिधान भट्टारक मञ्जुश्री की प्रेरणामात्र से ही विरचित नहीं है, अपितु उक्त स्तोत्र और प्रणिधान—इन दोनों (ग्रन्थों) के अभिधेयों के प्रारूप एवं (उनका) क्रम आदि भी साक्षात् रूप से (भट्टारक मञ्जुश्री द्वारा) निर्दिष्ट हैं। आचार्य चोंखापा ने तो अपनी प्रखर प्रतिभा एवं वाक्-श्री के माध्यम से समुचित शब्दसंयोजन द्वारा उन्हें रचनाबद्ध किया है। इससे इन दोनों ग्रन्थों का अत्यधिक महत्त्व प्रमाणित होता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ का संक्षिप्त अभिधेय

जिन (बुद्ध) अमिताभ एवं उनके परम पवित्र क्षेत्र (सुखावती) के अचिन्त्य गुणों पर आलम्बित इस प्रार्थना एवं प्रणिधान के प्रारम्भ में मनःस्थित प्रणिधानों की सिद्धि के

1. आचार्य चोंखापा 'क', पृ० 180, टशील्हुनपो संस्करण।
2. आचार्य चोंखापा 'क', पृ० 207, टशील्हुनपो संस्करण।

साक्षी के रूप में ऋद्धिबल से करुणापूर्वक सपरिवार (अमिताभ बुद्ध को) यहाँ पधारने के लिए प्रार्थना की गई है। प्रत्येक प्राणी का अगले जन्म में परम पवित्र क्षेत्र सुखावती में उत्पाद हो और वहाँ वह तीक्ष्णबुद्धि के रूप में उत्पन्न हो। उस क्षेत्र में उत्पन्न होने के अनन्तर उस आश्रय (जन्म) में अनेक (सूक्ष्म) प्रहेयों का प्रहाण हो और अनेक अधिगम गुणों का प्राकट्य हो तथा वह अपरिमित परहित करने में सक्षम हो। (-ऐसी प्रार्थना की गयी है)।

सामान्यतः आगम और अधिगम (गुणों) के प्रति विशुद्ध श्रवण, चिन्तन एवं भावना के लिए सदा विशिष्ट आश्रय (जन्म) प्राप्त होता रहे। विशेषतः मोक्षगुणों के प्रति आकृष्ट चित्त से समुत्थित होकर विनय धर्म में प्रव्रजित आश्रय (शरीर) प्राप्त हो और उसी आश्रय में धारणी, प्रतिभान, अभिज्ञा आदि गुणों का उपलम्भ हो। सम्पूर्ण प्रहेय और उपादेय स्थानों का सम्यग् विभाजन करने में सक्षम महाप्रज्ञा, प्रसन्न (विशुद्ध) प्रज्ञा, तीक्ष्ण प्रज्ञा तथा गम्भीर प्रज्ञा से भट्टारक मञ्जुश्री की भाँति योग हो। स्व एवं पर हित (स्वार्थ और परार्थ) करने में हमेशा तत्परता एवं समस्त बोधिचर्याओं में पारङ्गतता भट्टारक अवलोकितेश्वर की भाँति हो। स्व एवं पर हित (अर्थ) में प्रवृत्त होते समय मार एवं तैर्थिक आदि प्रतिवादियों का धर्षण और दमन करने में उपायकौशल्य शक्ति से सुसम्पन्नता भट्टारक गुह्याधिपति के सदृश हो। सभी जन्मों में महान् वीर्य के माध्यम से महाबोधि की प्राप्ति अतुलनीय शाक्यराज (महामुनि सम्यक्सम्बुद्ध) की भाँति हो। बोधि की सिद्धि में विघ्नभूत काय और चित्त के सभी प्रकार के रोगों का विनाश करने में सामर्थ्य सम्पन्नता सुगत भिषग्राज के तुल्य हो तथा सभी प्रकार की अकाल मृत्युओं का विनाश करने में सामर्थ्य जिन (बुद्ध) अमितायु अर्थात् अमिताभ की भाँति हो—ऐसा प्रणिधान करने के लिए कहा गया है।

संक्षेप में कर्म और उसके फल पर विश्वास, निर्याण (चित), बोधिचित्त तथा विशुद्ध दृष्टि का अवबोध होते हुए उनका अनुभव अनायास निरन्तर प्रवृत्त होता रहे। काय, वाक् और चित्त के माध्यम से जितने कुशलमूल संचित किये गये हैं, वे सभी परार्थ और विशुद्ध बोधि के हेतु के रूप में परिणत हों—ऐसी परिणामना करने के लिए कहा गया है। इस प्रकार लगभग 34 प्रणिधानों के मर्म स्थलों का प्रतिपादन किया गया है। उन सबका इस ग्रन्थ में पद्य (श्लोक) एवं गद्य मिश्रित रूप में रचना की गई है।

महत्त्वपूर्ण एवं महाप्रसाद गुण से सम्पन्न इस प्रणिधान (ग्रन्थ) के हिन्दी अनुवाद में बौद्ध विद्याओं के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् प्रो० रामशङ्कर त्रिपाठी (शोध-आचार्य) ने अमूल्य

सहयोग प्रदान किया है, एतदर्थ मैं उनके प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ। ग्रन्थ का सम्पादन एवं अनुवाद के माध्यम से उसे प्रस्तुत करने के इस परम पवित्र कार्य से उपार्जित पुण्य से 'सभी सत्त्व (प्राणी) सुखावती क्षेत्र में उत्पन्न होकर शीघ्रातिशीघ्र बुद्धत्व प्राप्त करें'—ऐसी परिणामना करता हूँ।

सुखावती क्षेत्र जन्मग्रहण-प्रणिधान

अद्भुत कर्मों के द्वारा (जो) (अशेष) जगत् को अक्षयश्री प्रदान करते हैं। एक बार स्मरण मात्र से वे मृत्युपति (यमराज) के भय को दूर कर देते हैं। अविच्छिन्न करुणा के द्वारा वे जगत् के समस्त सत्त्वों को इकलौते पुत्र के समान समझते हैं। (ऐसे) देव और मनुष्यों के (यथार्थ) शास्ता उन अमितायु की मैं (हृदय से) वन्दना करता हूँ॥ 1॥

मुनीन्द्र (शाक्यमुनि) द्वारा अनेक अवसरों पर सम्यक्तया और पूर्णतया प्रशंसित परमश्रेष्ठ सुखावती क्षेत्र में उत्पन्न होने के लिए करुणा से प्रेरित होकर यथाशक्ति कुछ प्रणिधान (मैं चोंखापा) कहने जा रहा हूँ॥ 2॥

(जागतिक प्राणी) उपादेय और प्रहेय स्थलों में घनीभूत अविद्या से आवृत (ग्रस्त) हैं। द्वेषरूपी शस्त्र के द्वारा (हम) स्वर्ग (अभ्युदय और निःश्रेयस) के प्राण (मूल) को काटने वाले हैं तथा कामतृष्णा रूपी पाश से संसार-चारक (कारावास) में आबद्ध हैं। (अपि च) कर्मनदी के (वेगवान् प्रवाह) द्वारा (द्रुत गति से) भवसागर की ओर ले जाए जाते हैं॥ 3॥

जरा, व्याधि (आदि) की (अनवरत दुर्दान्त) अनेक दुःख तरङ्गों के द्वारा हम सदा (भवार्णव में) परिभ्रमण करते रहते हैं। भयंकर मकररूपी मृत्युपति के मुख में प्रविष्ट होने से अनिष्ट दुःखों के भार से दबे हुए (हम), अनाथों के लिए मेरे सकरुण आर्तस्वर से॥ 4॥

मनःस्थित प्रणिधानों की सिद्धि के साक्षी, विपत्तियों से ग्रस्त (सांसारिक प्राणियों) के एकमात्र मित्र (बन्धु), नायक अमिताभ बुद्ध, और अवलोकितेश्वर, जिनपुत्र महास्थाम-प्राप्त आदि सपरिवार की आदरपूर्वक प्रार्थना करने पर॥ 5॥

(उन्होंने) अपरिमित कल्पों तक हम लोगों के लिए (जो अनन्त) परम चित्तोत्पाद की प्रतिज्ञा की हैं, (उन्हें) विस्मृत किये बिना गरुडराज के आकाश मार्ग से उड़कर आने

की भाँति (आप अमिताभ बुद्ध, अवलोकितेश्वर, महास्थामप्राप्त जिनपुत्र सपरिवार) करुणापूर्वक ऋद्धिबल से यहाँ (मनुष्य भूमि में) पधारें॥ 6॥

स्व और पर के त्रैकालिक दो सम्भार सागरों को युगपद् (एक-साथ) संकलित करने के प्रभाव (बल) से मुझे मृत्यु-काल के निकट पहुँचते समय (महा-)नायक अमिताभ बुद्ध को दो प्रमुख शिष्य आदि परिवार से साक्षात् परिवृत देखकर उस समय सपरिवार जिन (अमिताभ) पर आलम्बित तीव्र श्रद्धा उत्पन्न होकर, मर्मान्तक दुःखों से रहित, सविषयक श्रद्धा की अविस्मृत (जागरूक) स्मृति विद्यमान रहते हुए मृत्यु (च्युति) होते ही आठ जिनपुत्रों द्वारा ऋद्धि-बल से उपस्थित होकर सुखावती-क्षेत्र की ओर जानेवाले मार्ग का यथायथ (सही-सही) निर्देश करने के कारण सुखावती-क्षेत्र में रत्नरूपी पद्म से महायान गोत्रीय (और) सर्वदा तीक्ष्णबुद्धि के रूप में ही उत्पाद हो।

(वहाँ) उत्पन्न होते ही धारणी, समाधि, निरालम्ब बोधिचित्त, अक्षय प्रतिभा आदि अपरिमित गुणसमूह की प्राप्ति तथा दश दिशाओं के पुत्रों सहित अनुत्तर शास्ता अमिताभ आदि जिन तथागतों को प्रसन्न करके (उनसे) महायान से सम्बद्ध वचनों की आगम-परम्परा का सम्यक्तया प्रतिग्रहण हो।

उन वचनों के अर्थ का यथावत् अवबोध कर प्रत्येक क्षण में बुद्ध के अनन्त क्षेत्रों में ऋद्धि के द्वारा अप्रतिहत गमन होकर बोधिसत्त्वों की समस्त विपुल चर्याओं को (मैं) सुसम्पन्न कर सकूँ।

विशुद्ध क्षेत्र में उत्पन्न होने के साथ ही तीव्र करुणा से समुत्थित होकर अप्रतिहत ऋद्धि के द्वारा विशेष रूप से अशुद्ध क्षेत्रों में जाकर समस्त सत्त्वों को अपने-अपने भाग्य के अनुकूल धर्म का प्रतिपादन (देशना) करने की वजह से (उन्हें) जिन-तथागतों द्वारा प्रशंसित विशुद्ध मार्ग में आरूढ (प्रतिष्ठित) करने में सक्षम हो सकूँ। इन अद्भुत चर्याओं को शीघ्रता से सम्पन्न करने के माध्यम से अपरिमित जगत्-हित करने के लिए जिन-तथागत के पद को भलीभाँति प्राप्त कर सकूँ।

जब आयुः संस्कार का उत्सर्जन होते समय अपार परिवार-मण्डल से परिवृत अमिताभ बुद्ध का चक्षु-मार्ग से स्पष्ट दर्शन करने से (स्व-सन्तान) श्रद्धा एवं करुणा से परिपूर्ण हो॥ 7॥

अन्तराभव का आभास उदित होते ही आठ जिनपुत्रों द्वारा सम्यक् (अभ्रान्त) मार्ग का निर्देश करा देने से सुखावती (क्षेत्र) में उत्पन्न होकर निर्मित (काय) द्वारा अशुद्ध क्षेत्र के प्राणियों का विनयन कर सकूँ॥ 8॥

इस प्रकार के परम पद को जब तक प्राप्त नहीं कर सकूँ तब तक उन सभी जन्मों में भी हमेशा जिन तथागत के आगम और अधिगम रूपी शासन में विशुद्ध श्रवण, चिन्तन और भावना की साधना करने वाला आश्रय (मानव शरीर) ही प्राप्त हो। वह आश्रय भी स्वर्ग (लोक) के सात गुणालङ्कारों से रहित न हो। इस प्रकार सभी अवस्थाओं में भी यथावत् पूर्वनिवास अनुस्मरण करने वाली जन्म (परम्परा) की अनुस्मृति प्राप्त हो। अपि च, सभी जन्मों में सम्पूर्ण भव (संसार) को निःसार (तुच्छ, निरर्थक) समझते हुए मोक्षगुणों से अन्वित मनोहारी मनस् (चित्त) से समुत्थित होकर भगवान् बुद्ध द्वारा सुभाषित विनय धर्म में प्रव्रजित हो सकूँ। प्रव्रजित हो जाने पर भी सूक्ष्म आपत्तियों (दोषों) से भी अलिप्त रहते हुए शीलस्कन्ध को परिपूर्ण करने के कारण महाबोधि-प्राप्त अक्षोभ्य भिक्षु की भाँति होऊँ।

और भी, सभी जन्मों में संक्लेश और व्यवदान की व्यवस्था का यथावत् अवबोध होकर उसमें पारङ्गत होने के अवयवभूत सभी धर्मों के अशेष शब्दों और अर्थों को न भूलते हुए धारण करनेवाली परिसम्पन्न धारणी प्राप्त हो। स्वयं द्वारा जिस प्रकार ग्रहण (या धारण) किया गया है, (उस तत्त्व की) अन्यों को देशना करने में अप्रतिहत विशुद्ध प्रतिभा प्राप्त हो। पुनश्च, सभी जन्मों में शूरङ्गम आदि समाधियों के द्वार, मांस चक्षु आदि (पाँच) चक्षु, ऋद्धि के विषयों के ज्ञान आदि अभिज्ञाओं की प्राप्ति से वियोग न हो।

अपि च, सभी जन्मों में प्रहेय और उपादेय स्थानों को स्वबल से विभाजित (बोधित) करने में सक्षम उदार महाप्रज्ञा प्राप्त हो। संक्लेश और व्यवदान धर्मों के सूक्ष्मातिसूक्ष्म अंशों को भी यथावत् एवं अमिश्रित रूप से विभाजित (अवबोधित) करने में सक्षम, प्रसन्नप्रज्ञा प्राप्त हो। अनवबोध, विपरीत बोध एवं विचिकित्सा (संशय) से युक्त चित्त के उत्पन्न होते ही उनका पूर्णतया अवरोध करने में सक्षम तीक्ष्ण-प्रज्ञा तत्काल प्राप्त हो। अन्य (लोगों) के द्वारा (ठीक-ठीक) परिच्छेद (परिमाप) न किये जा सकने योग्य प्रवचनों के शब्द और अर्थ में प्रकर्षपर्यन्त रूप से प्रवृत्त होने वाली गम्भीर प्रज्ञा प्राप्त हो। संक्षेप में दौष्प्रज्ञता के समस्त दोषों से रहित प्रज्ञा के द्वारा प्रवचनों के शब्द और अर्थों का विभाजन (प्रविचय) करने में उपायकौशल्य प्रज्ञा के माध्यम से (मैं) बोधिसत्त्वों की सभी

चर्याओं में पारङ्गत भट्टारक मञ्जुश्री की भाँति होऊँ। इस प्रकार की महाप्रज्ञा, प्रसन्नप्रज्ञा, तीक्ष्णप्रज्ञा और गम्भीरप्रज्ञा को भलीभाँति प्राप्त करके भाग्यशालियों को अनुगृहीत एवं मिथ्यावादियों को निगृहीत करने तथा विद्वानों को सन्तुष्ट करने के अङ्ग के रूप में जिन-तथागत के समस्त प्रवचनों पर आलम्बित व्याख्यान, शास्त्रार्थ और (ग्रन्थ-) रचना में पारङ्गत विद्वत्ता प्राप्त हो।

और भी, सभी जन्मों में स्वार्थ को ही प्रधान रूप से ग्रहण करनेवाला मनस्कार और बोधिसत्त्वों की उदार चर्याओं के प्रति अकर्मण्यता (कौसीद्य) और लीनता (स्त्यान) से युक्त सभी चित्तों (मनस्) का पूर्णतया निषेध कर (अवरोध कर) परार्थ को अपनाने में तत्पर एवं परम प्रतिभासम्पन्नता में पूर्णता प्राप्त करने के लिए उपायकौशल्य से अन्वित बोधिचित्त के माध्यम से (मैं) समस्त बोधिचर्याओं में पारङ्गत भट्टारक अवलोकितेश्वर की भाँति होऊँ।

अपि च, सभी जन्मों में स्वार्थ एवं परार्थ में प्रवृत्त होत समय मार, तैर्थिक तथा सभी प्रतिवादियों का दमन करने में उपायकौशल्य शक्ति के माध्यम से बोधिसत्त्वों की सभी चर्याओं में पारङ्गत भट्टारक गुह्याधिपति के सदृश होऊँ।

सभी जन्मों में कौसीद्य (आलस्य) के प्रतिपक्ष (विरोधी) वीर्य (कुशल उत्साह) के द्वारा बोधिप्राप्ति की (सभी) चर्याओं को परिनिष्पन्न करने में प्रारम्भिक बोधिचित्तोत्पाद से लेकर एक क्षण के लिए भी तन्द्रा (आलस्य) न करते हुए महान् वीर्य के माध्यम से महाबोधिप्राप्त अतुल शाक्यराज (महामुनि बुद्ध) की भाँति होऊँ।

सभी जन्मों में बोधि सिद्ध करने में विघ्नभूत काय एवं चित्त के सभी रोगों का विनाश करने में, जिनका नाम लेते ही, जो काय, वाक् एवं चित्त के सभी रोगों को उत्खातमूल कर देने में सामर्थ्यसम्पन्न हैं, उन सुगत भैषज्यराज के तुल्य होऊँ।

तथा च, सभी जन्मों में यथेप्सित आयु परिपूर्ण होने में जिनके नामोच्चारण मात्र से सभी प्रकार की अकाल मृत्यु (आदि सभी मृत्युओं) का विनाश हो जाता है, ऐसे सामर्थ्यसम्पन्न जिन(=तथागत) अमितायु की भाँति होऊँ।

आयुष्य के विघ्नों को निकट देखते ही रक्षक अमितायु के चार कर्मों में से जिस (कर्म) के द्वारा (उन विघ्नों का) दमन (प्रशमन) हो सके, उस (कर्म) के अनुकूल काय के आभास का प्रदर्शन हो, जिसका दर्शन करते ही आयुष्य के सभी विघ्न उपशान्त हों

और जिस कर्म द्वारा विनयन (उपशमन) हो उसके अनुकूल काय आभासित हो तथा उन्हें नाथ अमितायु के रूप में पहचान कर, उनके प्रति अकृत्रिम एवं दृढ़ श्रद्धा का उत्पाद हो और उसके बल पर आश्रित होकर सभी जन्मों में जिन (तथागत) अमितायु की साक्षात् कल्याणमित्रता से वियोग न हो।

और भी, सभी जन्मों में लौकिक एवं लोकोत्तर सभी गुणों के मूलाधार महायान के लाक्षणिक कल्याणमित्र (गुरु) के द्वारा (मैं) आराधन करते हुए अनुगृहीत होऊँ तथा अनुगृहीत होते समय भी उन कल्याणमित्र के प्रति अभेद्य दृढ़ श्रद्धा प्राप्त कर हर प्रकार से (अर्थात् सभी माध्यमों से) उनकी आराधना ही करता रहूँ। आराधना न करनेवाला भाव (आशय) क्षणमात्र के लिए भी सिद्ध (उत्पन्न) न हो। कल्याणमित्र द्वारा उपदिष्ट और अनुशिष्ट सभी (शिक्षाएं या अनुशासन) सम्पूर्णतया अविकल रूप से उपदिष्ट हों। उनके अववाद के सभी अर्थों का यथावत् अवबोध हो तथा उनकी सिद्धि में पारङ्गत होऊँ। अकल्याणमित्र और पापमित्रों के वश में क्षणमात्र भी न चलूँ।

सभी जन्मों में कर्म-फल पर विश्वास रखने वाली श्रद्धा और सभी निर्याण (चित्त), बोधिचित्त तथा विशुद्ध दृष्टि का अवबोध होते हुए (उनका) अनुभव अनायास निरन्तर प्रवृत्त होता रहे। सभी जन्मों में काय, वाक् और चित्त के माध्यम से जितने कुशल मूल संचित किये हैं, वे सभी परार्थ एवं विशुद्ध बोधि के हेतु ही हों।

जब तक परम मुनि (बुद्ध) के उस श्रेष्ठ पद को मेरे द्वारा प्राप्त नहीं किया जाता, तब तक विशुद्ध सुमार्ग को साधने वाले आश्रय (काय) मुझे प्राप्त हों तथा प्रव्रजित होता रहूँ और पूर्वजन्मों का (भी) स्मरण रहे॥ 9॥

धारणी, प्रतिभान, समाधि, अभिज्ञा एवं ऋद्धि आदि अपरिमित गुणों के कोश को धारण करते हुए अद्वितीय ज्ञान और करुणा तथा शक्ति प्राप्त करके बोधिचर्या में शीघ्र पारङ्गत हो सकूँ॥ 10॥

अकाल मृत्यु के निमित्त (चिह्न) देखते ही तत्काल जिन (तथागत) अमितायु के काय का सुस्पष्ट दर्शन हो तथा मृत्युपति (यमराज़) को प्रभावहीन करके अमृतविद्याधर अधिगम शीघ्र प्राप्त हो॥ 11॥

सभी जन्मों में अमितायु बुद्ध के परमयान (महायान) के साक्षात् कल्याणमित्र होने के कारण जिन-तथागत द्वारा प्रशंसित उस सुमार्ग से क्षणमात्र के लिए भी (मेरी) निवृत्ति न हो॥ 12॥

सत्त्वों के अर्थ (हित) की उपेक्षा करके स्वार्थ के प्रति लोलुप बुद्धि का कभी भी उत्पाद न हो, परार्थ साधने की प्रक्रिया में असंमूढ उपायकौशल्य के द्वारा सर्वदा परार्थ के लिए तत्पर रहूँ ॥ 13 ॥

मेरे नाम के उच्चारण एवं स्मरण करने मात्र से भी (स्वकीय) पापकर्मों के (अनिष्ट) फल से पीड़ित (लोगों को) सभी जन्मों में परम सुखश्री से सम्पन्नता और समृद्धि प्राप्त हो और वे परमयान की ओर जानेवाले सोपानों पर आरुढ हों ॥ 14 ॥

जिनपुत्रों के आंशिक विमोक्ष को ही (यहाँ) परिलक्षित किया गया है। अत: जिनपुत्रों की चर्याओं के अशेष विघ्नों का शमन होकर सभी अनुकूल सामग्रियों की मन में सोचते ही सिद्धि हो ॥ 15 ॥

सपरिवार शाक्येन्द्र, नायक अमिताभ, मैत्रेय, मञ्जुश्री, गुह्याधिपति एवं अवलोकितेश्वर आदि सुगतों के अविसंवादी प्रतीत्यसमुत्पादस्वरूप सत्य के (प्रभाव से) ये सभी प्रणिधान शीघ्रतापूर्वक सिद्ध हों ॥ 16 ॥

सुखावती क्षेत्र में जन्म-ग्रहण प्रणिधान परम क्षेत्र द्वारोद्घाटन नामक यह ग्रन्थ लोसङ्-डक् पाई-पल (सुमतिकीर्तिश्री) द्वारा जिङ्-छि (नामक स्थान) के विहार में रचा गया है। इसे ज़ङ्-क्योङ् (भद्रपाल) ने लिपिबद्ध किया है।

॥ भवतु सर्वमङ्गलम् ॥

***

कालक्रियां च अहं करमाणो आवरणान् विनिवर्तिय सर्वान् ।
संमुख पश्यिय तं अमिताभं तं च सुखावतिक्षेत्र व्रजेयम् ॥

तत्र गतस्य इमि प्रणिधाना आमुखि सर्वि भवेय्यु समग्रा ।
तांश्च अहं परिपूर्य अशेषान् सत्त्वहितं करि यावत लोके ॥

तहि जिनमण्डलि शोभनि रम्ये पद्मवरे रुचिरे उपपन्न: ।
व्याकरणं अहु तत्र लभेय्या संमुखतो अमिताभजिनस्य ॥

भद्रचरिं परिणाम्य यदासं पुण्यमनन्तमतीव विशिष्टम् ।
तेन जगद् व्यसनौघनिमग्नं यात्वमिताभपुरिं वरमेव ॥

आर्यभद्रचर्याप्रणिधान (गण्डव्यूहसूत्र, पृ० 435)

●

Text-Critical Notes on Buddhist Tantras (1)

— S. S. Bahulkar —

[The present article discusses the textual problems of some passages from Buddhist Tantric texts : the four Tantras and the secret language, Hevajra Tantra II.iii.54; the Mālāmantra of Acala, Guhyasamāja Tantra, Paṭala XIV (Matsunaga's edn. p. 65) and a benedictory verse of the Sekoddeśaṭīkā. The Sanskrit passages in the MSS as well as in the critical editions have been compared with their Tibetan translations, wherever necessary. An attempt is made to reproduce a more reliable text.]

(1) The Four Tantras and the Secret Language

The verse under discussion occurs in the chapter on the Secret Language *(sandhyābhāṣa* for *sandhyābhāṣā)* in the Hevajra Tantra (HT). The Sanskrit text along with its Tibetan translation is reproduced below from D. L. Snellgrove's critical edition:

हसितं चेक्षणाभ्यां तु आलिङ्गं द्वन्द्वकैस्तथा ।
तन्त्रेणापि चतुर्णां च सन्ध्याभाषं न शब्दितम् ॥ (HT, II.iii-54)

Tibetan translation:

དགོད་དང་ལྟ་བ་དག་གིས་དང་། |
འཁྲུད་དང་དེ་བཞིན་གཉིས་གཉིས་ཀྱི། |
རྒྱུད་ཀྱང་རྣམ་པ་བཞི་རྣམས་ཀྱིས། |
དགོངས་པའི་སྐད་ནི་མ་བསྒྲགས་པ། ༥༤ |

(Transcribed from the Roman in Snellgrove's edn. Part II, p. 60-61)

Snellgrove translates:

"As for the smile, the gaze, the embrace and the union, even by the *tantras* the secret language of these four is not mentioned."

(Snellgrove's edn. Part I, p. 99)

On this translation, Snellgrove comments (foot-note no. 3): "Each of these stages, representing the four consecrations, is identified with one of the four classes of *tantras*. ..The confusion of grammatical endings scarcely permits a sure translation." (Snellgrove's edn. Part I, p. 99)

As Snellgrove rightly points out, the case endings of the words *hasita-, īkṣaṇa-, āliṅga-* and *dvandvaka-* create a problem for a translator. Further, the words *tantreṇa* and *caturṇām* also add to the confusion. Snellgrove seems to connect the word *sandhyābhāṣam* with *caturṇām* and translates the passage accordingly. Now, as mentioned before, the case endings of the words *hasita-* etc. do not convey a proper meaning.

On this verse, the commentary Yogaratnamālā (YRM) has the following gloss:

हसितेत्यादिनातिगुह्यतामाह। चतुर्णामिति। क्रिया-चर्या-योग-योगोत्तराना(sic.णा)-मिति। न शब्दितं न कथितम्।

(Transcribed from the Roman in Snellgrove's edn., Part II, p. 145)

"By (the word) 'smile' and so on, (the speaker, i. e., Vajragarbha) speaks of the extreme secrecy. 'Of the four' (means) 'of (the tantras, namely,) the Kriyā, the Caryā, the Yoga and the Yogottara.' 'Not mentioned' (means) 'not told.' "

It may be said that the gloss is not of much help in correcting the erroneous readings of the verse. However, it rightly explains the word *caturṇām* as *kriyā-caryā-yoga-yogottarāṇāṁ (tantrāṇām).* Another commentary, the Hevajrapañjikāmuktāvalī (HPM), explains:

अतिगुह्यतामाह-**हसिते**त्यादिना। **चतुर्णां** क्रिया-चर्या-योग-योगोत्तराणां यत्तत्र **हसितप्रेक्षिताभ्यामालिङ्गनद्वन्द्वकै**श्च लक्षितम्। तथाहि—क्वचित् क्रियादितन्त्रे देवतानां प्रज्ञोपाययोरनुरागसूचकं स्मितम्, क्वचिन्मूर्तौ प्रेक्षणम्, क्वचिदालिङ्गनं क्वचिद् द्वन्द्वम्। इत्थंभूतेनापि क्रियादि**तन्त्रेण न शब्दितं** न कीर्तितं **सन्ध्याभाषम्**। केवलं योगनिरुत्तरतन्त्रैरेव कीर्तनीयम्। तस्मात् परमगुह्यमिति भावः। (HPM, p.169)

According to the HPM, the secret language *(sandhyābhāṣā)* is not mentioned by the four tantras, namely, the *kriyā-*, the *caryā-*, the *yoga-* and the *yogottara-,* but by the tantras falling in the category of the *yoga-niruttara* alone. This interpretation conveys a better sense of the verse. The HPM mentions the five, instead of the commonly known four, classes of tantras. These five classes have also been mentioned by the YRM in its gloss on the word *sarvamantranayam* (HT II.viii.10). It says:

सर्वमन्त्रनयमिति। क्रियाचर्यायोगयोगोत्तरयोगनिरुत्तरभेदेन।

(Snellgrove's edn., p. 156)

The explanation given by the HPM does not add much to that found in the YRM. However, the gloss is important, as it has preserved a better reading: *hasitaprekṣitābhyām āliṅganadvandvakais tathā*. The reading would make the first two *pāda*s complete, without much metrical irregularity (except the violation of the rule of *caesura* (*yati*), which violation is not uncommon in the Tantric texts).

Moreover, this verse is also found elsewhere in the Buddhist Tantric texts. For example, the Rahasyadīpikā (=RD), a commentary on the Vasantatilaka (=VT), quotes the verse with some variant readings:

हसितप्रेक्षिताभ्यां वा आलिङ्गद्वन्द्वकैस्तथा ।
तन्त्राणामपि चतुर्णां सन्ध्याभाषेण देशितम् ॥

(RD on VT X.24, p. 84)

Tibetan translation:

དགོད་དང་ལྟ་བ་དག་གིས་སམ། །
འཁྲུད་དང་དེ་བཞིན་གཉིས་གཉིས་ཏེ། །
རྒྱུད་ནི་བཞི་པོ་རྣམས་ཀྱི་ཡང་། །
དགོངས་པའི་སྐད་ཀྱིས་བསྟན་པ་ཡིན། །

(RD on VT X.24, Tibetan translation, p. 184)

One of the MSS *(cha)* used by the editors has a reading *vā'liṅgaṇa* (sic. *na*)-*dvandvakais tathā*, which is closer to the reading found in the *pratīka* given by the HPM. In the verse quoted by the RD, the third *pāda* has a better reading: *tantrāṇāam api caturṇām.* The fourth *pāda* has the reading *sandhyābhāṣeṇa,* in place of *sandhyābhāṣaṁ na,* conveying the totally opposite meaning. The difference in the reading shows that the verse, possibly one of the verses common to different Buddhist tantras, has been preserved in different forms and understood in different ways, owing to different traditions, regarding the classification of the tantras into four or five classes and the secret language connected with them. It is also possible to say that the reading *sandhyābhāṣeṇa* seems to be a corrupt one, crept into the recensions of the MSS of the RD, before the commentary was translated into Tibetan.

On the basis of the evidence given above, the verse may be emended in the manner given below:

हसितप्रेक्षिताभ्यामालिङ्गनद्वन्द्वकैस्तथा ।
तन्त्रेणापि चतुर्णां च सन्ध्याभाषं न शब्दितम् ॥

Here, the words *tantreṇa* and *caturṇām* should be understood in the sense of *tantrāṇām catuṣṭayena*, or *caturbhih tantraiḥ*.

Translation:

"The secret language is not mentioned even by the four tantras (characterized by the gestures, namely,) the smile, the gaze, the embrace and the union."[1]

(2) The Mālāmantra of Acala

In the fourteen chapter (*paṭala*) of the Guhyasamājatantra (GST), a number of mantras to be employed in various rites have been mentioned.

---

1. The gestures, i.e., the smile, the gaze and the embrace are also mentioned in the Sampuṭa Tantra VI.3.49 (A critical edition of this work is under preparation); cf. VT X.24. The gestures also symbolize the four consecrations, See HT II.iii.11; Snellgrove 1959, Part 1, p. 138-139; Wayman 1977, p. 60.

The usual obscurity of the words in the mantras has been augmented by the corrupt readings of the Sanskrit MSS. The mantra in praise of Acala is one of the instances. The mantra reads:

> ओँ अचलकारण हूँ हूँ मोट्ट मोट्ट सट्ट सट्ट ह ह मोह मोह सह सह हन हन दह दह तट्ट तट्ट तिष्ठ तिष्ठ आविश आविश महामत्तपालक धुन धुन तिणि तिणि किणि किणि खाद खाद विघ्नान् मारय मारय दुष्टान् भक्ष भक्ष सर्वान् कुरु कुरु किरि किरि महाविषमवज्र स्फोटय स्फोटय हूँ हूँ हूँ नृबलितरंगनर्तक आँ आँ हाँ हाँ अचलचेत स्फोटय स्फोटय ओँ असमन्तिक त्राट् महाबल सातय समयं मँ त्राँ हाँ माँ शुध्यतु वज्री तुष्यतु वज्री नमोऽस्त्वप्रतिबलेभ्यः ज्वालय त्राट् असह नमः स्वाहा ॥ (Transcribed from the Roman in Matsunaga's edition, p. 65)

The editions prepared by B. Bhattacharya, S. Bagchi, and Swami Dwarikadas Shastri do not have considerable differences in the text reproduced above. Y. Matsunaga shows some variants in the Tibetan transliteration on the basis of the Derge and the Peking Kanjur. A critical edition of the Sanskrit and the Tibetan texts has been brought out by Francesca Fremantle in her dissertation *A Critical Study of the Guhyasamāja Tantra* (Fremantle, 1971). This edition too does not show much difference in the text quoted above. It may be observed that the Sanskrit text of the mantra in question differs considerably from its transliteration into the Tibetan script reproduced in the Derge Kanjur (Toh. 442, rGyud, Ca, p. 90a[1]-148a[6]). Candrakīrti's commentary on the GST, the Pradīpodyotana (PU), agrees more with the Tibetan transliteration (PU, p. 152). The commentary proves to be a reliable source for making corrections in the Sanskrit text reproduced above. A corrected text is given below:

> अचल काण चण्ड नट्ट नट्ट मट्ट मट्ट मोट्ट मोट्ट सट्ट सट्ट तट्ट तट्ट हन हन दह दह मोह मोह मोहकर हस हस वज्रहासं कुरु सह सह मन्दरट् मन्दरट् गर्ज गर्ज नह नह बन्ध बन्ध तिष्ठ तिष्ठ आविश आविश महामन्त्रपालक धुन धुन तिणि तिणि खाद खाद विघ्नान् मारय मारय दुष्टान् भक्ष भक्ष सर्वं कुरु कुरु किरि किरि महाविषमवज्रं स्फोटय स्फोटय हूँ हूँ हूँ त्रिवलित-रङ्ग-नर्तक आँ आँ आँ हाँ हाँ हाँ अचलचेट स्फोटय स्फोटय हूँ हूँ असमन्तिकत्राट् महाबल शातय

परसमयमन्त्रान् आँ आँ हाँ हाँ माँ शुध्यतु लोकः तुष्यतु वज्री नमोऽस्त्वप्रतिबलेभ्यो ज्वालय त्राट् असह नमः स्वाहा॥

(3) Benedictory Verse of the Sekoddeśaṭīkā

The first edition of Nāropā's Sekoddeśaṭīkā (SUT) was prepared by Mario E. Carelli and was published by the Oriental Institute, Baroda in 1941. A long-felt need for a revised and more authentic edition is recently fulfilled by an excellent edition brought out by Francesco Sferra. It is a matter of great delight to find that Sferra has made a number of corrections on the basis of a careful study of Sanskrit and Tibetan sources. While going through the initial portion of this text, particularly the two benedictory verses, it is observed that the editor has rightly made several emendations in the text. In addition to these, I may suggest one more emendation, in the verse no. 2.

Carelli's edition reads:

उद्धृत्य वाक्यसलिलं विमलप्रभादिपयोनिधेर्जलमुचेव मयाधिमुक्तम् ।
उद्देशगूढपदपद्धतिपल्वलेऽस्मिन् तृष्णोपरोधविधये विबुधा भजध्वम् ॥

Sferra's edition:

उद्धृत्य वाक्यसलिलं विमलप्रभादिपयोनिधेर्जलमुचेव मया विमुक्तम् ।
उद्देशगूढपदपद्धतिपल्वलेऽस्मिंस्तर्षोपरोधविधये विबुधा भजध्वम् ॥

(The respective words are underlined by me to mark the emendations).

The reading *payonidher*, accepted by Carelli and followed by Sferra, is based on the evidence of the single MS used by Carelli, now untraceable. Sferra has used two new MSS: MS A has the variant *pāthonidher* and MS B, *pāyonidher*. The latter appears to be a scribal error for *payonidher*. Both the words *payonidhi-* and *pāthonidhi-* carry the same meaning 'ocean'. Therefore, a comparison with the Tibetan translation (ཆུ་གཏེར) would not help here in ascertaining a correct reading. The verse under discussion is in the *Vasantatilakā* metre, in which, according to the rules of Sanskrit prosody,

the first syllable of each of the quarters (*pāda*) should be a long one (*guru*). The reading *payonidher* goes against this rule. It is therefore better to accept the reading *pāthonidher*. In the Tantric texts, the irregularities in the metres and grammar are quite common. However, having taken into consideration the language and the style of this particular text, it may be argued that the original verse must have had the reading *pāthonidher*.

REFERENCES

PRIMARY SOURCES

GST Guhyasamājatantra. *The Guhyasamāja Tantra*, ed. by B. Bhattacharya, Gaekwad's Oriental Series 53, Baroda, 1931; ed. by S. Bagchi, Buddhist Sanskrit Text Series 9, Darbhanga 1965; ed. by Y. Matsunaga, *Journal of Koyasan University* Vol. 10, March 1975 (Reprint, Toho Shuppan Inc., Osaka, 1978); ed. by Swami Dwarikadas Shastri, Bauddha Bharati Series 17, Varanasi, 1984. Also, see below, Fremantle, Francesca.

HPM Hevajrapañjikāmuktāvalī. See, HT.

HT Hevajratantra. See, Snellgrove 1959. *Hevajratantram with Muktāvalī Pañjikā of Mahāpaṇḍitācārya Ratnākaraśānti*, ed. by R. S. Tripathi and T. S. Negi, Bibliotheca Indo-Tibetica Series XLVIII, CIHTS, Sarnath, 2001.

PU Pradīpodyotana. *Guhyasamājatantrapradīpodyotanaṭīkā Ṣaṭkoṭi-vyākhyā*, ed. by Chintaharan Chakravarty, Tibetan Sanskrit Works Series 25, Kashi Prasad Jayaswal Research Institute, Patna, 1984.

RD Rahasyadīpikā. See VT.

SUT Sekoddeśaṭīkā. *The Sekoddeśaṭīkā of Naḍapāda* (Nāropā). The Sanskrit Text edited for the first time with an introduction in English, by Mario E. Carelli, Gaekwad's Oriental Series 90, Baroda, 1941; *The Sekoddeśaṭīkā by Nāropā (Paramārthasaṃgraha)*, Critical

Edition of the Sanskrit Text by Francesco Sferra and Critical Edition of the Tibetan Translation by Stefania Merzagora, SOR XCIX, IsIAO, Rome, 2006.

VT Vasantatilaka. *Vasantatilakā of Caryavratī Kṛṣṇācārya with Commentary Rahasyadīpikā of Vanaratna*, ed. by S. Rinpoche and V. V. Dwivedi, RBTS 7, CIHTS, Sarnath, 1990.

YRM Yogaratnamālā, ed. by D. L. Snellgrove along with HT.

MODERN WORKS

Fremantle, Francesca

1971 *A Critical Study of the Guhyasamāja Tantra* (unpublished Ph. D. dissertation), University of London, London.

Snellgrove, David L.

1959 *The Hevajra Tantra : A Critical Study*, Part I, Introduction and Translation; Part II, Sanskrit and Tibetan Texts, London Oriental Series 6, London.

Wayman, Alex

1977 *Yoga of the Guhyasamājatantra : The Arcane Lore of Forty Verses, A Buddhist Tantra Commentary*, Motilal Banarsidass, Delhi.

•

प्रपञ्चसारतन्त्र में 'प्रणव'

—नरसिंह चरण पण्डा—

[प्रपञ्चसारतन्त्र के ग्रन्थकर्ता शंकराचार्य थे। आचार्य शंकर श्रीविद्या के महान् उपासक एवं परम सिद्ध पुरुष थे। प्रपञ्चसारतन्त्र के एकोनविंश अध्याय में प्रणवमन्त्र के जप, उपासना, पूजाविधि एवं फल प्राप्ति आदि विषय में विस्तार से वर्णन किया गया है। प्रणव ओंकार है। 'अ'+'उ'+'म्' से बना यह 'ओम्' नाम ही परमेश्वर का सर्वोत्तम नाम है। यह प्रणव मन्त्र अर्थात् ओंकार वेद का आदि होने से सब वैदिक मन्त्रों के प्रारम्भ में ही प्रयुक्त होता है। यह योनि है, ब्रह्म है एवं सबका कारण है। प्रणव मन्त्र की पूजा, जप आदि विधिवत् करने पर योगी / साधक को विशिष्ट सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। यह अष्ट ऐश्वर्य के नाम से भी प्रसिद्ध है। इस अष्ट सिद्धि को प्राप्त करने के बाद योगी जीवनमुक्त हो जाता है एवं सतत आनन्द रस पान करके (प्रारब्ध कर्म समाप्त होने तक) संसार में रहता है। तत्पश्चात् वह जीवनमुक्त होकर विष्णु के दिव्य परम पद को प्राप्त करता है।]

परमेश्वर का श्रेष्ठ नाम प्रणव ही है। यह 'प्रणव' ओम् के नाम से भी प्रसिद्ध है। प्रणव शब्द की व्युत्पत्ति निम्नलिखित है, यथा—'प्रणूयते इति प्रणवः'। सर्व जन सामान्य से स्तुत्य या वन्दित होने से यह प्रणव नाम से अभिहित हैं। द्वितीय व्युत्पत्ति है—'प्राणान् अवति इति प्रणवः' अर्थात् जो प्राण की रक्षा करता है, वह भी प्रणव नाम से जाना जाता है। प्रणव के बिना प्राण शक्ति का संचार नहीं हो सकता है। अतः यह प्राण के भी द्योतक हैं। पुनश्च 'प्रकर्षेण नवीकरोति इति प्रणवः' - अर्थात् हर पदार्थ या वस्तु को जो नूतन प्रकार से परिचालित या उपस्थापित करता है, वह प्रणव है। (That which renovates everything renews the soul as it were, is known as *praṇava*). V.S. Apte ने प्रणव शब्द का अर्थ अंग्रेजी में इस प्रकार दिये हैं—(1) The sacred syllable *Oṁ*, (2) a kind of musical instrument, (3) an epithet of Viṣṇu or Supreme Being. प्रणव के विषय में गोपथ ब्राह्मण कहता है—

अमृतं वै प्रणवः, अमृतेनैव तन्मृत्युं चरति।
तद्यथा मन्त्रेण वा गतं संक्रमेत एवं तत् प्रणवेनोपसन्तनोति॥[1]

---

1. गोपथ ब्राह्मण, उत्तर भाग, प्रपाठक 3, कण्डिका-11

'प्रणव' ही ओंकार है। योगसूत्र के भोजवृत्ति में प्रणव की व्युत्पत्ति इस प्रकार की गई है—

प्रकर्षेण नूयते स्तूयतेऽनेनेति, नौति, स्तौतीति वा प्रणव ओंकारः।[1]

प्रणव (ओम्) जीवन है, जीवन प्रणव द्वारा मृत्यु को पार कर जाता है (अर्थात् बार-बार मृत्यु को प्राप्त नहीं होता)। जिस प्रकार बाँस द्वारा गड्ढे आदि को लाँघा जाता है, उसी प्रकार भवसागर को लाँघने के लिए प्रणव पुल बनता है। प्रणव के द्वारा मनुष्य इस भवसागर को पार कर मोक्ष प्राप्त कर सकता है। कठोपनिषद् में कहा है—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ॥[2]

'ओम्' ईश्वर का श्रेष्ठ नाम है। अतः योगदर्शन (समाधि पाद 27) में परमेश्वर के नाम के विषय में कहा गया है—**'तस्य वाचक प्रणवः'** उस ईश्वर का वाचक 'प्रणव' है एवं उस प्रणव का जप और उसके अर्थ (ईश्वर) का बार-बार चिन्तन करना चाहिए। **'तज्जपस्तदर्थभावनम्'**[3]।

प्रणव तीन प्रकार के हैं—(1) शैव प्रणव, (2) शाक्त प्रणव, (3) वैदिक प्रणव। यहाँ विशेष रूप से शाक्त प्रणव का वर्णन एवं विस्तार किया गया है। अन्य प्रणवों का भी उल्लेख एवं साधारणतया उसका चिन्तन भी समय-समय पर किया गया है।

प्रपञ्चसारतन्त्र के रचयिता आचार्य शंकराचार्य थे। आचार्य शंकर श्रीविद्या के महान् उपासक एवं परम सिद्ध पुरुष थे। इसी कारण वे भगवान् शंकर के अवतार माने जाते हैं। इससे इस ग्रन्थ का और भी महत्त्व बढ़ जाता है। प्रपञ्चसारतन्त्र के एकोनविंश अध्याय में प्रणवमन्त्र के जप, उपासना, पूजाविधि एवं फल प्राप्ति आदि के विषय में विस्तार से वर्णन किया गया है। प्रथम श्लोक में प्रणव का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि—

---

1. योगसूत्र, भोजवृत्ति, I.27
2. कठोपनिषद्, I.2.15
3. तदेव, 28

अशेषदुरितापहं विविधकामकल्पद्रुमं
विमुक्तिफलसिद्धिदं विमलयोगिसंसेवितम् ।[1]

प्रणव (ओंकार) मन्त्र का विधिवत् जप किया जाता है। जप के साथ-साथ पूजा, हवन आदि कार्य भी सम्पन्न होते हैं। शास्त्र नियमानुसार इस मन्त्र की पूजा-अर्चना, जप आदि करना अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि समस्त दु:खों को दूर करने वाला, कल्पवृक्ष की तरह समस्त अभीष्ट एवं विशिष्ट फलों को प्रदान करने वाला, परम शान्ति एवं मोक्ष प्रदान करने वाला, योगियों के द्वारा सदा पूजित होने वाला यह संसार में सर्वश्रेष्ठ एवं दिव्य मन्त्र है। यहाँ 'ओम्' मन्त्र का (ओंकार का) मन्त्रोद्धार हुआ है। अर्थात् प्रणव शब्द का साक्षात् रूप 'ओम्' ही है, जो हर वैदिक मन्त्रों के उच्चारण से पहले उच्चारित होता है। इस ओंकार का उच्चारण किये बिना वैदिक मन्त्रों के उच्चारण, स्तुति या पाठ करना सम्भव नहीं है, क्योंकि परमात्मा का श्रेष्ठ नाम होने से यह हर मन्त्र के प्रारम्भ में ही उच्चारित होता है। परमेश्वर द्वारा सृष्ट (**अपौरुषेय: वेद:**) एवं ऋषियों के द्वारा दृष्ट यह पावन वैदिक मन्त्रों के आदि में 'ओम्' कार का सदा निवास है। यह विधि का विधान है एवं शास्त्रों का नियम भी है कि ओंकार के उच्चारण बिना, मन्त्रों का विधिवत् पाद एवं अभीष्ट अर्थ का द्योतन या परिस्फुरण सम्भव नहीं है।

'अ' + 'उ' + 'म्' से बना यह 'ओम्' नाम ही परमेश्वर का सर्वोत्तम नाम है, क्योंकि 'ओम्' में सर्वप्रथम वर्ण 'अ' है। देवनागरी लिपि की वर्णमाला का सर्वप्रथम वर्ण 'अ' है। सभी वर्णों का निर्माण 'अ' वर्ण से होता है। इसी प्रकार इस संसार का जन्म परमेश्वर द्वारा होता है, इसीलिए परमेश्वर का श्रेष्ठ नाम 'ओम्' का सर्वप्रथम अक्षर 'अ' है। पुनश्च 'अ' ध्वनि सभी स्वरों और व्यञ्जनों में समायी हुई है। 'अ' बिना कोई भी अक्षर नहीं बन सकता। अत: 'अ' वर्णों में सर्वोत्तम, सर्वव्यापी तथा सभी वर्णों का उत्पादक है। इसी प्रकार परमेश्वर भी सर्वश्रेष्ठ, सर्वव्यापी एवं सम्पूर्ण संसार का उत्पादक है। अत: 'अ' परमेश्वर के जगदुत्पादक अखण्ड, सर्वोत्तम एवं सर्वव्यापी रूप का द्योतक है। 'अ' के पश्चात् 'उ' वर्ण है। हृदय के अभ्यन्तर प्रदेश से उठी 'अ' की ध्वनि 'उ' की ध्वनि के साथ मिलकर व्यापक रूप धारण करती है, अन्य किसी भी ध्वनि के साथ मिलकर वह व्याप्ति को प्राप्त नहीं हो सकती। इस प्रकार सर्वप्रथम एवं सर्वोत्तम ध्वनि 'अ' को विस्तार एवं

---

1. प्रपञ्चसारतन्त्र, अध्याय XIX (19).1

व्याप्ति देने वाला अक्षर 'उ' ही है। यह 'उ' वर्ण 'अ' का पालक है। ईश्वर भी जगत् का उत्पादक एवं पालक है। अत: 'उ' ईश्वर के पालक रूप को द्योतित करता है। 'अ' एवं 'उ' मिलकर 'ओ' बनता है, जो सम्पूर्ण तन-मन में एवं उसके बाहर व्याप्त हो जाता है। 'उ' के बाद 'म्' वर्ण आता है। संसार में प्रत्येक वस्तु और व्यक्ति की भाँति प्रत्येक ध्वनि का भी अन्त है। स्वभावतया 'म्' वर्ण के उच्चारण के समय दोनों ओंठ स्वत: ही बन्द हो जाते हैं तथा हृदय प्रदेश से उत्पन्न 'अ' की ध्वनि 'उ' के साथ व्याप्त होकर 'म्' ध्वनि करती हुई बाहर निकल जाती है, अर्थात् समाप्त हो जाती है। अत: 'म्' ध्वनि 'अ' + 'उ' = 'ओ' ध्वनि का अन्त करने वाली है। इसी प्रकार परमेश्वर के उत्पादक और पालक रूप के बाद तीसरा रूप संहारक या प्रलयकर्ता का है। अत: 'म्' उच्चारण के पश्चात् 'ओम्' शब्द का उच्चारण समाप्त हो जाता है। अत: 'म्' परमेश्वर के संहारक रूप को द्योतित करता है। इसीलिये ईश्वर के श्रेष्ठ नाम में अन्तिम अक्षर 'म्' को रखा गया है।

इस प्रणव 'ओम्' मन्त्र का ऋषि, छन्द एवं देवता के विषय में कहा गया है कि—

मन्त्रस्यास्य मुनि: प्रजापतिरथ च्छन्दश्च देव्यादिका
गायत्री गदिता जगत्सु परमात्माख्यस्तथा देवता ।[1]

इस मन्त्र का ऋषि (मुनि) है प्रजापति, छन्द गायत्री एवं देवता परमात्मा देवता, अर्थात् नारायण-विष्णु, यहाँ देवता हैं। नारायण का विशेष ध्यान किया गया है, जिसमें उनको शंख, चक्र, गदा, पद्म आदि धारण करने वाले श्रेष्ठ देव के रूप में चित्रित किया गया है। विष्णु-नारायण का ध्यान करने के पश्चात् ब्राह्मण के द्वारा पूजा कराने के लिए व्यक्ति को दीक्षित होना चाहिए। क्योंकि दीक्षा के बिना पूजा, जप आदि कार्य करना सम्भव नहीं है। दीक्षित व्यक्ति ही पूजा आदि कार्य करने के लिए अधिकारी होता है। अत: प्रणव मन्त्र एवं नारायण पूजादि कार्य के लिए प्रपञ्चसारतन्त्र ने भी दीक्षा पर विशेष बल दिया है (**दीक्षितो मनुमिमं शतलक्षं प्रजपेत् प्रतिहुनेच्च दशांशम्**[2])। अभिनवगुप्त ने तन्त्रालोक (1.43) में कहा है—

दीयते ज्ञान सद्भाव: क्षीयन्ते पशुवासना: ।
दानक्षपणसंयुक्ता दीक्षा तेनेह कीर्तिता ॥

---

1. प्रपञ्चसारतन्त्र, XIX.3
2. तदेव, श्लोक 5

तत्पश्चात् अभीष्ट फल प्राप्ति के लिए शालीधान, तिल, घृत आदि से हवन कार्य विधिवत् सम्पन्न होना परम आवश्यक है। इस विशिष्ट हवन से ऐहिक-पारलौकिक फल मिलता है, ऐसा कहा गया है (**ऐहिकपारत्रिकमपि स तु लभते वाञ्छितं फलं न चिरात्**[1])। इसके बाद वैष्णव पीठ स्थापना करके उसमें विधिपूर्वक मुकुन्द भगवान् का आवाहन करना चाहिए और यजन पूजन करना चाहिए। मुकुन्द भगवान् विष्णु का एक नाम है। मुकुन्द के चार आवरण देवता हैं, यथा "वासुदेवः संकर्षणः प्रद्युम्नश्चा-निरुद्धकः"। इन चार आवरण देवता वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध के वर्ण का भी उल्लेख किया गया है। वासुदेव का वर्ण है स्फटिक, संकर्षण का वर्ण स्वर्ण है, प्रद्युम्न का वर्ण दूर्वा है और अनिरुद्ध का वर्ण इन्द्रनीलमणि है। इन आवरण देवताओं के हस्त भी चार हैं, अर्थात् भगवान् विष्णु की तरह ये चार देवता भी 'चतुर्भुजात्मक' हैं एवं अपने हस्तों में शंख, चक्र, गदा, पद्म धारण किये हुए हैं तथा किरीट, कुण्डल एवं पीताम्बर वस्त्र के साथ अत्यन्त शोभायमान लग रहे हैं। आवरण देवताओं का यह दिव्य रूप अवर्णनीय है। इन आवरण देवताओं की चार मूर्त्तियाँ हैं, यथा आत्मा, अन्तरात्मा, परम ज्ञान एवं आत्मज्ञान तथा चार शक्तियाँ भी हैं, यथा—निवृत्ति, प्रतिष्ठा, विद्या एवं शान्ति। इस प्रकार विष्णु भगवान् का उनके आवरण देवता, देवी एवं शक्तियों के साथ पूजन करके ओंकार मन्त्र का विधिवत् जप एवं हवन आदि कार्य करने से योगी विष्णुधाम को प्राप्त करता है। ग्रन्थकार के शब्दों में—

इत्थं मन्त्री तारमनुं जापहुतार्चा
भेदैरङ्गीकृत्य च युञ्ज्यादपि योगान् ।
यैः संलब्ध्वा चेह समग्रां श्रियमन्ते
शुद्धं विष्णोर्धाम परं प्राप्स्यति योगी ॥[2]

परमात्मा के साथ आत्मा को जोड़ने वाला जो तत्त्व है वह योग है। आत्मा क्या है? आत्म तत्त्व को समझाते हुए ग्रन्थकार स्पष्ट करते हैं कि—

करपादमुखादिविहीनमनारतदृश्यमनन्यगतमात्मपदम्।[3]

1. प्रपञ्चसारतन्त्र, XIX.6
2. तदेव, श्लोक 13
3. तदेव, श्लोक 14

निरन्तर प्रतिभास होने वाला यह आत्मा कर, पाद एवं मुख से रहित है। दूसरे साधन के द्वारा प्राप्त न होने वाला आत्मपद को या परमात्मा को आत्मा द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। आत्मा को आत्मा द्वारा ही प्राप्त कर सकते हैं, **'आत्मपदं आत्मनि पश्यति।'** आत्मा में आत्मा का दर्शन—यह योग है। यहाँ योगतत्त्व के माध्यम से आत्मा का दर्शन सम्भव है ऐसा ग्रन्थकार मानते हैं। उपनिषद् में आत्मतत्त्व का जो लक्षण एवं स्वरूप बताया गया है **'अशब्दमस्पर्शरूपमव्ययम्'**[1] प्रपञ्चसारतन्त्र उससे अभिन्न रूप से सहमत है—इसमें कोई सन्देह नहीं है।

योग के ऊपर विशेष महत्त्व देते हुए ग्रन्थकार योग को दूषित करने वाले तत्त्व को उल्लिखित करते हैं **'कामकोपलोभप्रमोहमदमत्सरतेति षट्कम्'**[2]- अर्थात् काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद एवं मत्सर—यह छह योग के शत्रु माने जाते हैं। अतः इन छह दूषणों से हर आत्मतत्त्ववित् को अवश्य दूर रहना चाहिए। योगदर्शन के अनुसार योग के आठ अंग हैं, यथा—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा, समाधि।[3] प्रपञ्चसारतन्त्र भी इन आठ अंगों का उल्लेख करके[4] उसकी व्याख्या करता है। इस ग्रन्थ में सत्य, अहिंसा, अस्तेय, क्षमा, आर्जव एवं वैराग्य को यम कहा गया है।[5] स्वाध्याय, तप, अर्चन, सन्तोष एवं शौच—ये पाँच नियम हैं (**स्वाध्यायतपोऽर्चनाव्रतानि तथा॥ सन्तोषश्च सशौचो नियम...**)[6]। निश्चल सुखपूर्वक बैठने का नाम आसन है।[7] यहाँ पाँच प्रकार के आसन का

---

1. कठोपनिषद्, अध्याय-I, वल्ली-3, श्लोक 15
2. प्रपञ्चसारतन्त्र, अध्याय XIX.15
3. यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि - योगसूत्र, II.29
4. यमनियमासनपवनायामाः प्रत्याहृतिश्च धारणया ।
   ध्यानश्चापि समाधिः प्रोक्तान्यङ्गानि योगयोग्यानि ॥ —प्रपञ्चसारतन्त्र, XIX.16
   महाभारत (शान्तिपर्व, 316.7) के अनुसार 'वेदेषु चाष्टगुणिनं योगमाहुर्मनीषिणः' अर्थात् मनीषिगण वेदों में योग को अष्टाङ्ग कहते हैं। भाष्यकार नीलकण्ठ के अनुसार 'अष्टगुणी' का अर्थ है अष्टसिद्धियों से युक्त और 'अष्टगुण' का अर्थ है—अष्टाङ्ग।
5. सत्यमहिंसा समता धृतिरस्तेयं क्षमाऽऽर्जवश्च तथा ।
   वैराग्यमिति यमः स्यात् .... ॥ प्रपञ्चसारतन्त्र, XIX.17
   तुलनीय : अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः॥ योगसूत्र, II.30
6. प्रपञ्चसारतन्त्र, XIX.17-18
   तुलनीय : शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः॥ योगसूत्र, II.32
7. स्थिरसुखमासनम्, योगसूत्र, II.46

उल्लेख हुआ है, यथा—1. पद्मासन[1], 2. स्वस्तिकासन[2], 3. भद्रासन[3], 4. वज्रासन[4], 5. वीरासन[5]। रेचक, पूरक एवं कुम्भक भेद से प्राणायाम तीन प्रकार के हैं। वायु को (साँस को) वाम नासिका के अन्दर खींचना पूरक कहलाता है। वायु को दक्षिण नासिका से बाहर निकालना रेचक एवं साँस को अन्दर रोकना कुम्भक कहलाता है। प्राणायाम में गणपति भाव का प्राधान्य होता है। गौरीसुत = गजानन अर्थात् प्राण, गौरी संवित् का सुत प्राण है। गणपति भाव में कुम्भक करने से लम्बोदर भाव बनता है। **''लम्बोदराय सकलाय जगद्धिताय, नागाननाय श्रुतियज्ञविभूषिताय, गौरीसुताय गणनाथ नमो नमस्ते''**॥ इस श्लोक से गणपति देवता का ध्यान करके महागणपति क्रमानुसार प्राणायाम करना चाहिए। प्राणायाम के क्रम में वायु को बायें नासिका से ग्रहण करना चाहिए एवं दक्षिण नासिका से छोड़ना चाहिए।[6]

चित्त, आत्मा, प्राण का एक साथ होना प्रत्याहार है। इन्द्रिय को विषय से संहरण करना प्रत्याहार है।[7] प्रत्याहार सिद्ध हो जाने पर सर्वथा अभाव हो जाता है। स्थापन कर्म को धारणा कहते हैं। वायु के साथ चैतन्य का सम्बन्ध होना यह धारणा है। **(स्थान स्थापन कर्म प्रोक्ता स्याद्धारयेति तत्त्वज्ञैः)**[8]। अर्थात् बाहर या शरीर के भीतर कहीं भी किसी एक देश में (भाग में) चित्त को अवस्थापित करना, ठहराना—यह धारणा है। नाभिचक्र, हृदयकमल आदि शरीर के भीतरी देश हैं और आकाश या सूर्य-चन्द्रमा आदि देवता या कोई भी मूर्ति तथा कोई भी पदार्थ बाहर के देश हैं, उनमें से किसी एक अंश में

---

1. ऊर्वोरुपरि विन्यस्य सम्यक् पादतले उभे ।
   अङ्गुष्ठौ च निबध्नीयाद्धस्ताभ्यां व्युत्क्रमेण तु ॥ इदं पद्मासनम्। प्रपञ्चसारतन्त्र भाष्य, XIX.18
2. जानूर्वोरन्तरा सम्यक् कृत्वा पादतले उभे ।
   ऋजुकायो विशेदेतदासनं स्वस्तिकं विदुः ॥ तदेव।
3. सीवन्याः पार्श्वयोर्न्यस्येत् गुल्फयुग्मं सुनिश्चलम् ।
   वृषणाधः पार्श्वपादौ पाणिभ्यां परिबन्धयेत् ॥ इदं भद्रासनम्॥ तदेव।
4. ऊर्वोः पादौ क्रमान्न्यस्येत् जान्वोः प्रत्यङ्मुखाङ्गुलिः ।
   करौ निदध्यादाख्यातं वज्रासनमनुत्तमम् ॥ तदेव।
5. एकं पादमधः कृत्वा विन्यस्योरौ तथेतरम् ।
   ऋजुकायो विशेद् योगी वीरासनमुदाहृतम् ॥ तदेव।
6. श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः॥ —योगसूत्र, II.49
7. प्रत्याहारो ज्ञेयश्चैतन्ययुतस्य सम्यगनिलस्य । —प्रपञ्चसारतन्त्र, XIX.21
   तुलनीय - ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम् ॥ —योगसूत्र, II.55
8. प्रपञ्चसारतन्त्र, XIX.22, तुलनीय- देशबन्धश्चित्तस्य धारणा - योगसूत्र, III.1

या भाग में चित्त की वृत्ति को लगाने का नाम 'धारणा' है। एक विषय में लीन हो जाना ध्यान है। जिस ध्येय वस्तु में चित्त को लगाया जाए, उसी में चित्त का एकाग्र हो जाना, अर्थात् ध्येय मात्र की एक ही तरह की वृत्ति का प्रवाह चलना, उसके बीच में किसी भी दूसरी (भिन्न) वृत्ति का न उठना (आगमन न होना) 'ध्यान' (Concentration) है।[1] ध्यान के बिना तप, पूजादि कार्य सम्भव नहीं है। योगी के लिए अपने लक्ष्य की ओर जाना अत्यन्त आवश्यक है। परन्तु ध्यान के बिना वह लक्ष्य प्राप्त करना कष्टसाध्य है। यहाँ प्रणव (ओंकार) मन्त्र का ध्यान करना योगी के लिए ध्येय वस्तु है। अत: परम ध्येय वस्तु का ध्यान करना तत्त्वविद् का प्रधान कर्तव्य है। समाधि के विषय में ग्रन्थकार कहते हैं कि—

सत्तामात्रं शुद्धं नित्यमपि निरञ्जनञ्च यत्प्रोक्तम् ।
तत्प्रविचिन्त्य च तस्मिंश्चित्तलयः स्यात् समाधिरुद्दिष्टः ॥[2]

अर्थात् शुद्ध, निरंजन एवं नित्य वस्तु में चित्त को सदा के लिए लय कर देना—यह समाधि कहलाता है। अपने इष्ट मन्त्र का ध्यान करते-करते जब चित्त ध्येयाकार में परिणत हो जाता है, उसके अपने स्वरूप का अभाव सा हो जाता है, अर्थात् चित्त का निज स्वरूप शून्य-सा हो जाता है, तब उसको (योगी को) ध्येय से भिन्न उपलब्धि नहीं होती, उस समय उस ध्यान का ही नाम 'समाधि' हो जाता है। यह 'समाधि' ध्यान की एक विशिष्ट अवस्था है। इस अवस्था में योगी को अधिक या निश्चित समय तक अपने लक्ष्य प्राप्त करने के लिए समाधिस्थ होना पड़ता है। समाधि के बिना लक्ष्यसिद्धि या अभीष्ट सिद्धि नहीं हो सकती। अत: प्रपञ्चसारतन्त्र ने योग की इस अवस्था के ऊपर विशेष महत्त्व दिया है। इस प्रकार इन अष्टाङ्गयोग के द्वारा योग के शत्रुओं का विनाश करना चाहिए।

पूजा एवं जप आदि कार्य के लिए शरीर का शोधन करना परमावश्यक है। भूतशुद्धि आदि विहित उपाय के द्वारा शरीर जब शुद्ध हो जाएगा, तत्पश्चात् 50 मात्रा विशिष्ट ओंकार मन्त्र का जप प्रारम्भ करना चाहिए। ओंकार में पचास (50) मात्रायें होती हैं, यथा—'अ' + 'उ' + 'म्' = 10+10+10=30 मात्रायें, बिन्दु की चार (4) मात्राएँ एवं

---

1. संस्थापयेच्च तत्रेत्येवं ध्यानं विदन्ति तत्त्वविदः। —प्रपञ्चसारतन्त्र, XIX.23
तुलनीय - तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्॥ —योगसूत्र, III.2
2. प्रपञ्चसारतन्त्र, XIX.23-24
तुलनीय - तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः॥ —योगसूत्र, III.3.

नाद की 16 मात्रायें = कुल 50 मात्रायें। इन मात्राओं को साथ लेकर या मन में रखकर प्राणायाम करना है। एक बार साँस (श्वास) को अन्दर लेना एवं पुनः बाहर निकालना इस प्रकार 50+50=100 मात्रायें होती हैं। इससे प्राण नियन्त्रण में आ जाता है। प्रपञ्चसारतन्त्र के अनुसार मन्त्र जप करने के लिए शरीर का ठीक ढंग से शोधन करके, स्वल्पाहार करके आराम से निद्रा समाप्त करके शुद्ध कमरे में निम्न भाग में, कुश, मृगचर्म-आसन के ऊपर आँखें बन्द करके पूर्व मुख होकर बैठना चाहिए। इस पवित्र भाव में बैठने से मन स्थिर एवं आनन्दित होता है। हृदय में ओंकार को स्थित रखकर परब्रह्म का स्मरण करके उनका बारम्बार ध्यान करना चाहिए। ओंकार का बार-बार अभ्यास करने से ब्रह्मपद प्राप्त होता है, क्योंकि ओंकार समस्त गुणों का बीज (मूल) है। इसे अनेक नामों से जाना जाता है, अर्थात् ओंकार के पर्यायवाची शब्दों का भाष्यकार ने अपने भाष्य में उल्लेख किया है, जो इस प्रकार है। प्रणवः, सर्वव्यापी, अनन्तः, तारम्, सूक्ष्मः, शुक्लः, वैद्युतः, परंब्रह्म, एकः, एकरुद्रः, ईशानः, भगवान्, महेश्वरः, महादेवः, सदाशिवः, सर्वरक्षिता, सर्वगतः, सर्वप्रियतमः, नित्यतृप्तः, सर्वावगमः, सर्वकान्तः, सर्वप्रविष्टः, सर्वश्रोता, सर्वस्वामी, सर्वसमर्थः, सर्वयाचकः, सर्वक्रियः, सर्वेच्छः, सर्वदीप्तः, सर्वावाप्तः, सर्वालिङ्गितः, सर्वहिंसकः, सर्वदाहकः, सर्वभावः, गुणबीजम्, ध्रुवः, वेदाः, उमध्यः, मपरः, त्रिमात्रकः, योनिः, सर्वदेहाश्रयः, सर्वसंवाहकः आदि।[1]

प्रणव (मन्त्र) अर्थात् ओंकार वेद का आदि होने से सब वैदिक मन्त्रों के प्रारम्भ में ही प्रयुक्त होता है। यह योनि है, ब्रह्म है एवं सबका कारण है। यथा—**ओम् अग्निमीळे पुरोहितम् ...**। ऋग्वेद का यह प्रथम मन्त्र है। इस मन्त्र से पहले ओंकार है, अर्थात् ओंकार के उच्चारण के बिना इस मन्त्र का या किसी भी मन्त्र का उच्चारण या पाठ नहीं कर सकते। यह इस ओंकार की विशेषता है।

तान्त्रिक उपासना में कुण्डलिनी शक्ति का जागरण एक विशिष्ट प्रक्रिया है, जिससे साधक या योगी अपने चरम लक्ष्य तक पहुँचता है। विशेषतया कुण्डलिनी शक्ति तो शरीर के शुद्ध और सूक्ष्म होने पर सात्त्विक विचार, शुद्ध अन्तःकरण, ईश्वर की सच्ची भक्ति और परिपक्व वैराग्य की अवस्था में एकाग्रता अर्थात् निश्चल ध्यान से जाग्रत होती है। जहाँ कहीं अकस्मात् किसी मनुष्य में अलौकिक शक्ति, अद्भुत चमत्कार तथा असाधारण ज्ञान का

---

1. द्रष्टव्य, प्रपञ्चसारतन्त्र, XIX.35-36

विकास देखने में आवे तो समझना चाहिए कि पूर्व जन्म के किन्हीं सात्त्विक संस्कारों के उदय होने अथवा हृदय पर सात्त्विक प्रभाव डालने वाली अन्य किसी घटना से कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत होकर सुषुम्ना के मुख में चली गयी है। साधक का चित्त बिन्दु से लेकर 'उन्मना' तक जाता है। उन्मना में पहुँच कर चित्त स्थिर हो जाता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि '**चित्तं विलयं गमयेद्दिनेशसंख्याते**'[1]—यहाँ 'दिनेश संख्या' का अर्थ है—सूर्य की संख्या। सूर्य की संख्या है बारह (द्वादश आदित्य)। अतः द्वादश प्रकार की अवस्थाओं को पार करके योगी का चित्त एक स्थान पर शान्त हो जाता है। यह द्वादश अवस्था क्या है? सबसे पहले 'ओम्' कार आता है। इसमें 'अ'+'उ'+'म्' - यह तीन अवस्था (stages of *yogī*) है। चौथा है बिन्दु, (5) अर्धचन्द्र, (6) निरोधिका, (7) नाद, (8) नादान्त, (9) शक्ति, (10) व्यापिनी, (11) समना, (12) उन्मना—यह द्वादशान्त या द्वादश शंख्या विशिष्ट योगी की मन्त्रसिद्धि की परम अवस्था है। 'समना' तक सदाशिव भाव है। 'उन्मना' शैव भाव में आता है। 'द्वादशान्त' इस स्थिति को महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज जी ने 'अखण्ड महायोग' कहा है। योगी के लिए यह महत्त्वपूर्ण अवस्थायें हैं। 'उन्मना' तक पहुँचने के बाद योगी परम शिव में शान्त हो जाता है या मिल जाता है। अर्थात् आत्मा परमात्मा में मिल जाती है। योगी / साधक एवं परमशिव (Absolute Reality) में कोई भेद नहीं रहता (**न तद् भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः। यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥**[2])। योगी को मोक्ष मिल जाने से वह परमगति को प्राप्त कर लेता है।

योग की अवस्थाओं के साथ योगी का सम्बन्ध रहता है। ये अवस्थाएँ हैं—जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय एवं तुरीयातीत। (**जाग्रत् स्वप्नसुषुप्ती तुरीयतदतीतके च तास्तासु**)[3]। इन्द्रिय के साथ चित्त जब भोग रूप में प्रतीत होता है, तब वह जाग्रत् अवस्था कहलाता है।[4] अर्थात् शरीर जब शुद्ध अवस्था में भोग करता है एवं चित्त भी नाना विषयों से सम्बन्धित रहता है, तब वह अवस्था जाग्रत् अवस्था के रूप में जाना जाता है। इन्द्रिय के कार्य न होते हुए भी प्राण का कार्य करना स्वप्नावस्था कहलाती है। (**संज्ञारहितैरपि तैरस्याऽनुभवो भवेत् पुनः स्वप्नः**)[5]। स्वप्नावस्था में संज्ञा शून्य होने पर भी चित्त को कुछ

---

1. प्रपञ्चसारतन्त्र, XIX.42
2. भगवद्गीता, XV.6
3. प्रपञ्चसारतन्त्र, XIX.47
4. स्वैरिन्द्रियैर्यदात्मा भुङ्क्ते भोगान् स जागरो भवति। —तदेव।
5. तदेव, XIX.48

अनुभव अवश्य होता है। सुषुप्ति[1] अवस्था में सूक्ष्म शरीर में कार्य बन्द होकर कारण शरीर में निद्रावृत्ति बनी रहती है। पुरुष वृत्ति-सारूप्य प्रतीत होता है। इस अवस्था में सत्त्वगुण गौणतम रूप से दब जाता है। तमोगुण रजोगुण की स्वप्नावस्था वाली क्रियाओं को भी रोककर प्रधान रूप से चित्त पर फैल जाता है। अत: किसी विषय का किसी प्रकार का भी ज्ञान नहीं रहता; किन्तु रज का नितान्त अभाव नहीं होता, वह कुछ अंश में बना ही रहता है। प्रपञ्चसारतन्त्रानुसार जब आत्मा चित्त के द्वारा बिना आवरण से देखती है, वह तुरीयावस्था कहलाती है।[2] तुरीयातीत अवस्था में योगी आत्मा एवं परमात्मा के मध्य कुछ भेद नहीं देखता। अर्थात् आत्मा एवं परमात्मा एकाकार हो जाने से योगी को अभेद ज्ञान भी नहीं होता। योगी के लिए यह अवस्था अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इस अवस्था से मुक्ति ज्यादा दूर नहीं है, ऐसा प्रतीत होता। ग्रन्थकार स्पष्ट रूप में कहते हैं कि—

आत्मपरमात्मपदयोरभेदतो व्याप्नुयाद् यदा योगी ।
तच्च तुरीयातीतं तस्यापि भवेन्न दूरतो मुक्तिः ॥[3]

ओंकार साधना (उपासना) के विषय में महामहोपाध्याय पण्डित गोपीनाथ कविराज '**शक्ति का जागरण और कुण्डलिनी**' नामक पुस्तक में लिखते हैं—

"ओंकार-साधना के अनेक स्तर हैं। सर्वप्रथम 'अ'कार, 'उ'कार और 'म'कार हैं। इन तीनों का भेद करना आवश्यक है। ये तीनों अवयव (अ, उ, म) हमारे जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति के द्योतक हैं। इन तीनों का भेद कराने के बाद ही तुरीय अवस्था का उदय होता है। उपासना-शास्त्रों में यही तुरीय अवस्था बिन्दु के नाम से प्रसिद्ध है। मन के साथ काल का घनिष्ठ सम्बन्ध है। काल की मात्रा जितनी घटती रहेगी, मन की सूक्ष्मता उतनी बढ़ती रहेगी। फलस्वरूप काल की मात्रा अतिक्रान्त होने पर मन लंघित होता है और तब अतिमानस स्थिति उत्पन्न होती है। बिन्दु, नाद और कला—इस प्रकार अवान्तर विभाग के द्वारा ऊर्ध्वगति का क्रम बनाया जाता है। काल की मात्रा के अनुसार मन के साथ विशुद्ध चैतन्य का सम्बन्ध हो जाता है। माया राज्य में काल की मात्रा जिस परिमाण

---

1. आत्मनिरुद्युक्ततया नैराकुल्यं भवेत् सुषुप्तिरपि। —तदेव।
2. पश्यति परं यदात्मा निस्तमसा चेतसा तुरीयं तत्॥ —तदेव, XIX.49
3. प्रपञ्चसारतन्त्र, XIX.49-50

में प्रकट होती है, मायातीत योगमाया राज्य में उतनी मात्रा में प्रकट नहीं होती। वहाँ से सूक्ष्म् मात्रा में प्रकट होती है। योगमाया के राज्य के ऊर्ध्व में कालचक्र भेद हो जाता है। तब मन की मात्रा का सवाल नहीं पैदा होता। उस वक्त मन के अतीत एवं शुद्ध माया के अतीत विशुद्ध चिदात्मक परमार्थ सत्य की उपलब्धि होती है। बिन्दु, अर्धमात्रा यही है ऐश्वरिक भूमि। इस भूमि में कुछ अवान्तर विभाग हैं, जिसे समझाने के लिए अर्धमात्रा शब्द का प्रयोग किया गया है। इस अवस्था में जो योगी पहुँच जाता है, उनकी दृष्टि में समग्र विश्व अपरोक्ष रूप में प्रतिभात हो जाता है तथा सर्वकर्त्तृत्वशक्ति अव्याहत रहती है। शास्त्रों में इसे अर्धमात्रा का राज्य कहा गया है। अतीत, अनागत और वर्तमान इन तीनों कालों का भेद यहाँ नहीं रहता। यहाँ नित्य वर्तमान स्थिति रहती है। लेकिन यह पूर्णत्व नहीं है ...ईश्वर विकासमात्र है। सिद्ध पुरुष इसी भूमि पर विचरण करते हैं।''[1]

योगी को इस प्रकार पाँच अवस्थाओं को पार करने के पश्चात् विशिष्ट सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। यह अष्ट ऐश्वर्य के नाम से प्रसिद्ध है। ग्रन्थकार शंकराचार्य के शब्दों में—

अणिमा महिमा च तथा गरिमा लघिमेशिता वशित्वञ्च ।
प्राप्तिः प्राकाम्यञ्चेत्यष्टैश्वर्याणि योगयुक्तस्य ॥[2]

(1) अणिमा—अर्थात् अणु की तरह छोटा या अदृश्य बन जाने की सामर्थ्य होना, जैसे हनुमान जी ने सुरसा के मुख में एवं बाद में लंका में प्रवेश करते समय किया था।[3] (2) लघिमा—शरीर को हलका कर देना। इससे जल, पंक और कण्टकादि से बाधा नहीं होती और आकाश में गमन करने की शक्ति आ जाती है।[4] (3) महिमा—शरीर को अत्यन्त विशाल कर लेना, जैसे हनुमान जी ने सुरसा के सामने लंका जाते समय किया था अर्थात् अपने शरीर को विशाल कर लिया था।[5] (4) गरिमा—शरीर को भारी कर लेना, जैसे हनुमान जी ने भीमसेन के मार्ग में बाधा डालते समय किया था।[6] (5) प्राप्ति—किसी

---

1. शक्ति का जागरण और कुण्डलिनी, अध्याय 21 (ओंकार तत्त्व और रहस्य विज्ञान), पृ० 177
2. प्रपञ्चसारतन्त्र, XIX.62
3. द्रष्टव्य, रामायण, सुन्दरकाण्ड 1.156 (एवमुक्ता हनुमता सुरसा कामरूपिणी)।
4. कायाकाशयो: ...आकाशगमनम्॥ --योगसूत्र, III.42
5. रामायण, सुन्दरकाण्ड, 1.161-165, (गीता प्रेस संस्करण)।
6. महाभारत, वनपर्व, अध्याय 146-147

इच्छित पदार्थ को क्षण भर में प्राप्त कर लेने की शक्ति होना। (6) प्राकाम्य—इच्छाशक्ति बाधा रहित हो जाना, अर्थात् इप्सित पदार्थ प्राप्त करने की इच्छा की पूर्ति अनायास सम्पन्न हो जाना। (7) वशित्व—सब प्राणियों एवं पदार्थों को वशीभूत कर लेने का सामर्थ्य होना अर्थात् सबको अपने वश में कर लेने की शक्ति प्राप्त हो जाना। (8) ईशित्व—भौतिक पदार्थों का विभिन्न रूपों में उत्पन्न करने की और उन पर शासन करने का सामर्थ्य होना। प्रणव उपासना करने के पश्चात् एक सिद्ध योगी को ये सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। इस अष्ट सिद्धि को प्राप्त करने के बाद योगी जीवन मुक्त हो जाता है एवं सतत आनन्द रस पान करके (प्रारब्ध कर्म समाप्त होने तक) संसार में रहता है। आचार्य शंकर के शब्दों में—

अष्टैश्वर्यसमेतो जीवन्मुक्तः प्रवक्ष्यते योगी ।
योगानुभवमहामृतरसपानानन्दनिर्भरः सततम् ॥[1]

इस प्रकार प्रणव (ओंकार) मन्त्र को श्रेष्ठ एवं अभीष्ट मानकर योगी को नित्य शुद्ध भाव से मन्त्र के द्वारा विधिपूर्वक जप, पूजा एवं हवन आदि कार्य करना पड़ता है। साथ-साथ योग के विभिन्न अंगों को जानकर चित्त के नाना अवस्थाओं को समझ कर एवं उससे ऊपर उठकर कुण्डलिनी जाग्रत् होने तक अविच्छिन्न रूप में परमपद को प्राप्त करने के लिए योगी तन्त्रोक्त प्रणव उपासना विधि के अनुसार समाधि में बैठा रहता है। अन्ततोगत्वा कठिन व्रत एवं दृढ़ (निश्चल) समाधि में रहकर वह अष्ट सिद्धि को प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है, जिससे वह 'जीवन्मुक्त' हो जाता है। इसके बाद विष्णु के दिव्य परमपद को प्राप्त करता है। यह इस जीवन का अन्तिम (चरम) लक्ष्य है। इससे बढ़कर और कुछ श्रेष्ठ नहीं है, जिसको प्राप्त किया जा सके। उस तत्त्व को जानकर एवं उसे प्राप्त कर योगी अमर हो जाता है—

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥[2]

*

1. प्रपञ्चसारतन्त्र, XIX.63
2. यजुर्वेद, XXXI.18

सहायक ग्रन्थ सूची :

प्रपञ्चसारतन्त्र - संपादक : आर्थर एवेलन, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, पुनर्मुद्रण, 1989

महाभारत - गीता प्रेस संस्करण, गोरखपुर, नौवाँ संस्करण, सं० 2053

योगसूत्र - संपादक : रामशंकर भट्टाचार्य, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, पुनर्मुद्रण, 1991

रामायण - गीता प्रेस संस्करण, गोरखपुर, सोलहवाँ संस्करण, सं० 2053

शक्ति का जागरण और कुण्डलिनी - महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, तृतीय संस्करण, 2000 ई०।

●

दुर्लभ ग्रन्थों की आधार सामग्री

—ठाकुरसेन नेगी—

[इस शीर्षक के अन्तर्गत 'धी:' के 41वें अंक में 84 महत्त्वपूर्ण हस्तलिखित ग्रन्थों की सूचना दी गई थी। प्रस्तुत अंक में उससे अन्य 94 हस्तलिखित ग्रन्थों की सूचना दी जा रही है।]

ABBREVIATIONS

CAMBRIDGE	Catalogue of the Buddhist Manuscripts in the University Library, Cambridge, ed. by Cecil Bendall, Cambridge, 1883.
COMP./INCOMP.	Complete/Incomplete.
DEV.	Devanāgarī.
IASWR	Buddhist Sanskrit Manuscripts, Micro-Fische Collection belonging to the Institute for Advance Studies of World Religions, New York.
N	Newārī Script.
NP/PL	Nepali Paper/Palm Leaf.
NEPAL-II	Catalogue of Darbar Library, Nepal, Vol.II.
RAK	Rāṣṭriya Abhilekhālaya, Kathmandu, Nepal.
RAS	Catalogue of Buddhist Sanskrit Manuscripts in the Possession of the Royal Asiatic Society, (Hodgson Collection) London.
SMTUL	A Catalogue of the Sanskrit Manuscripts in the Tokyo University Library, Tokyo, Japan, 1965.

Title	Author	Institution	Ms. No.
अमोघपाशलोकेश्वरपूजा Amoghapāśalokeśvarapūjā		CAMBRIDGE	Add.1423
अवलोकितनामसूत्र Avalokitanāmasūtra		” RAK	Add.1423 9
आर्य एकजटाभट्टारिकानामस्तोत्र Ārya Ekajaṭābhaṭṭārikānāmastotra		CAMBRIDGE	Add.1547
आर्यमहाविपुलविमानसुप्रतिष्ठितगुह्यनामधारणी Āryamahāvipulavimānasupratiṣṭhita-guhyanāmadhāraṇī		”	Add.1680
आर्यसहस्त्रभुजलोकेश्वरनामधारणी Āryasahasrabhujalokeśvaranāmadhāraṇī		”	Add.1553
उत्पात्लक्षण-मञ्जुश्रीपाराजिका Utpātlakṣaṇa-Mañjuśrīpārājikā	लोकेश्वरभाषित Lokeśvarabhāṣita	”	Add.1353
(श्री)उष्णीषविजयनामधारणी (Śrī)Uṣṇīṣavijayanāmadhāraṇī		” RAS	Add.1356 79-IV
एकल्लवीरचण्डमहारोषणतन्त्र Ekallavīracaṇḍamahāroṣaṇatantra		CAMBRIDGE	Add.1417
कपिशावदान Kapiśāvadāna		”	Add.1536

Material	Script	Folio	Comp./Incomp.	Other Information
Paper	N	8		
”	”	(135b-160b)		
”	”	(167-18)		
”	”	18		
”	”	9		
”	”	15		
”	”	26		
”	”	(13b-19b)		
”	”	(12-14)		
”	”	50		
”	”	32		

Title	Author	Institution	Ms. No.
कालचक्रतन्त्र Kālacakratantra		CAMBRIDGE SMTUL RAS	Add.1364 99 49
(श्री)कालचक्रमन्त्रधारणी (Śrī)Kālacakramantradhāraṇī		CAMBRIDGE	Add.1552
(आर्य)गणपतिहृदयमूलतन्त्र (Ārya)Gaṇapatihṛdayamūlatantra		"	Add.1356
चक्रपूजा Cakrapūjā		"	Add.1609
(श्री)चक्रसंवरहृदयनामधारणी (Śrī)Cakrasaṁvarahṛdayanāmadhāraṇī		"	Add.1551
चरणदर्शनाभिलाषस्तोत्र Caraṇadarśanābhilāṣastotra		"	Add.1614
चैत्यपुङ्गल Caityapuṅgala		"	Add.1405
छन्दोऽमृतलता Chando'mṛtalatā		"	Add.1369
ज्योतिपालसूत्र Jyotipālasūtra		" RAS	Add.1339 9
पञ्चमहास्वप्न Pañcamahāsvapna		CAMBRIDGE	Add.1339

Material	Script	Folio	Comp./Incomp.	Other Information
Palm Leaf	Bhujimol	128		
Paper	Dev.	132		
”	N	180		
”	”	2		
”	”	(5b-13b)		
”	”	52		
”	”	23		
”	”	10		
”	”	55		A.D. 1614
”	”	48		
”	”	(70b-75a)		
”	”	(78b-86b)		
”	”	(105-110b)		

Title	Author	Institution	Ms. No.
पञ्चबलिपूजा Pañcabalipūjā		CAMBRIDGE	Add.1609
पद्मावतीपूर्वयोगपरिकल्प Padmāvatīpūrvayogaparikalpa		” RAS	Add.1339 9
पापपरिमोचन Pāpaparimocana		CAMBRIDGE	Add.1276
पितापुत्रसमागम Pitāputrasamāgama		” RAS	Add.1339 9
बलिपूजा Balipūjā		CAMBRIDGE	Add.1609
(श्री)भूतसंवरसंक्षिप्ततन्त्रधारणी (Śrī)Bhūtasaṁvarasaṁkṣiptatantradhāraṇī		”	Add.1555
मङ्गलवस्तु Maṅgalavastu		” RAS	Add.1339 9
मञ्जुघोषपूजाविधि Mañjughoṣapūjāvidhi		CAMBRIDGE	Add.1424
महाकालतन्त्रव्याख्यानधारणीमहायानसूत्र Mahākālatantravyākhyānadhāraṇī Mahāyānasūtra		”	Add.1352

Material	Script	Folio	Comp./Incomp.	Other Information
Paper	N	52		
"	"	(216a-b)		
"	"	(274-280)		
"	"	65		
"	"	(192b-205)		
"	"	(256b-265)		
"	"	52		
"	"	8		
"	"	57b		
"	"	(58b-60)		
"	"	4		
"	"	15		

Title	Author	Institution	Ms. No.
महाकाश्यपवस्तुप्रव्रज्यासूत्र Mahākāśyapavastupravrajyāsūtra		CAMBRIDGE RAS	Add.1339 9
महाप्रतिसरामन्त्रधारणी Mahāpratisarāmantradhāraṇī		CAMBRIDGE RAS	Add.1550 56
महाप्रत्यङ्गिरामहाविद्याराज्ञीनामधारणी Mahāpratyaṅgirāmahāvidyārājñīnāmadhāraṇī		CAMBRIDGE RAS	Add.1348 77
महामायूरीविद्याराज्ञीनामधारणी Mahāmāyūrīvidyārājñīnāmadhāraṇī		CAMBRIDGE RAS	Add.1550 55
(आर्य)महापञ्चरक्षानामधारणी (Ārya)Mahāpañcarakṣānāmadhāraṇī		CAMBRIDGE	Add.1550
महावस्तु अवदाने-बहुबुद्धसूत्र Mahāvastu Avadāne-Bahubuddhasūtra		"	Add.1539
महाशीतवतीविद्याराज्ञीनामधारणी Mahāśītavatīvidyārājñīnāmadhāraṇī		" RAS	Add.1550 56
महासंवरकर्मराजविशुद्धिनामधारणी Mahāsaṁvarakarmarājaviśuddhi-nāmadhāranī		CAMBRIDGE	Add.1555

Material	Script	Folio	Comp./Incomp.	Other Information
Paper	N	(190-192b)		
”	”	(243b-246b)		
”	”	(1-8)		
”	”	(1-31)		
”	”	27		
”	”	21		
”	”	(11-15)		
”	”	(122-136b)		
”	”	21		
”	”	(13-15b)		
”	”	(15-18)		
”	”	(141-145b)		
”	”	8		

Title	Author	Institution	Ms. No.
महासंवरहृदयधारणी Mahāsaṁvarahṛdayadhāraṇī		CAMBRIDGE	Add.1546-2
(आर्य)महासांघिकानां लोकोत्तरवादिनां श्रीमहावस्तु-अवदानम् (Ārya)Mahāsāṅghikānāṁ Lokottaravādinām Śrīmahāvastu-Avadānam		"	Add.1339
(आर्य)महासहस्रप्रमर्दिनीनामधारणी (Ārya)Mahāsahasrapramardinīnāmadhāraṇī		"	Add.1550
		RAS	55
		"	56
(आर्य)मारीचीदेवतानामधारणी (Ārya)Mārīcīdevatānāmadhāraṇī		CAMBRIDGE	Add.1356
मूलविद्यानामधारणी Mūlavidyānāmadhāraṇī		RAK	3/589
(श्री)मैत्रीयनामधारणी (Śrī)Maitrīyanāmadhāraṇī		IASWR	MBB-II-172
(आर्य)मैत्रीयप्रज्ञानामधारणी (Ārya)Maitrīyaprajñānāmadhāraṇī		"	MBB-II-172
मोक्षप्रदनामधारणी Mokṣapradanāmadhāraṇī		"	MBB-II-172
(श्री)योगाम्बरकर्मराजविशुद्धिनामधारणी (Śrī)Yogāmbarakarmarājaviśuddhi-nāmadhāraṇī		"	MBB-II-172

Material	Script	Folio	Comp./Incomp.	Other Information
Paper	N	7		
,,	,,	272		
,,	,,	(8-10)	Comp.	
,,	,,	(109-122)		
,,	,,	(39-83)		
,,	,,	(22-25)	,,	
NP	,,	(88a-b)	,,	
,,	,,	(59-60)	,,	
,,	,,	(59a)	,,	
,,	,,	(63a-b)	,,	
,,	,,	(239b)	,,	

Title	Author	Institution	Ms. No.
(आर्य)राष्ट्रपालपरिपृच्छानाममहायानसूत्र (Ārya)Rāṣṭrapālaparipṛcchānāmamahāyānasūtra		CAMBRIDGE	Add.1586
(आर्य)राहुग्रहशान्तिस्वस्ति-उपद्रवनाशनामधारणी (Ārya)Rāhugrahaśāntisvasti-Upadravanāśanāmadhāraṇī		IASWR	MBB-II-172
लघुकालचक्रतन्त्र Laghukālacakratantra		RAK	Reel No.E.1483/2
ललितविस्तरनामधारणी Lalitavistaranāmadhāraṇī		IASWR	MBB-II-172
लोकपालस्तवस्तोत्र Lokapālastavastotra		CAMBRIDGE	Add.1379
वज्रगान्धारिकर्मप्रसरनामधारणी Vajragāndhārikarmaprasaranāmadhāraṇī		IASWR	MBB-II-172
वज्रतारानामधारणी Vajratārānāmadhāraṇī		"	MBB-II-172
वज्रयोगिन्योपदेशधारणी Vajrayoginyopadeśadhāraṇī		"	MBB-II-172
वज्रयोगिनीस्तोत्र Vajrayoginīstotra		"	MBB-II-172
(श्री)वज्रवाराहीद्वादशस्तुति (Śrī)Vajravārāhīdvādaśastuti		"	MBB-II-172

Material	Script	Folio	Comp./Incomp.	Other Information
Paper	N	20	Comp.	A.D.1661
NP	”	(274a-275a)	”	
”	”	110	”	
”	”	(85a-87b)	”	
Paper	”	22		
NP	”	((243a-b)	”	
”	”	(229b-230a)	”	
”	”	(231a-b)	”	
”	”	22		
”	”	(253a-b)	”	

Title	Author	Institution	Ms. No.
(आर्य)वज्रविदारिणीनामधारणी-हृदयोपहृदयमूलमन्त्र (Ārya)Vajravidāriṇīnāmadhāraṇī-hṛdayopahṛdayamūlamantra		IASWR	MBB-II-172
(श्री)वज्रविलासिनी-अष्टकस्तोत्र (Śrī)Vajravilāsinī-Aṣṭakastotra		"	MBB-II-172
(श्री)वज्रवैरोचनीदेवीस्तवस्तोत्र (Śrī)Vajravairocanīdevīstavastotra		"	MBB-II-172
वज्रसरस्वतीधारणी Vajrasarasvatīdhāraṇī		"	MBB-II-172
वसुधारानामधारणी Vasudhārānāmadhāraṇī		"	MBB-II-172
(श्री)वसुधारानामाष्टोत्तरशतक (Śrī)Vasudhārānāmāṣṭottaraśataka	बुद्धभाषित Buddhabhāṣita	CAMBRIDGE IASWR	Add.1356 MBB-II-172
वागीश्वरपूजाविधिस्तोत्र Vāgīśvarapūjāvidhistotra		"	MBB-II-172
विष्णुनारायणस्तोत्र Viṣṇunārāyaṇastotra		CAMBRIDGE	Add.1332
(श्री)विष्णुपञ्जरस्तोत्र (Śrī)Viṣṇupañjarastotra		"	Add.1379
वृष्टिचिन्तामणिनामस्तोत्र Vṛṣṭicintāmaṇināmastotra		"	Add.1472

Material	Script	Folio	Comp./Incomp.	Other Information
NP	N	(188b-190a)	Comp.	
"	"	(232b-233a)	"	
"	"	(233a-b)	"	
"	"	(233a-b)	"	
"	"	(136a-149b)	"	
"	"	(1-5a)		
"	"	(187a-188b)		
"	"	(51-57)		
Paper	"	22		
"	"	22		
"	"	6		

Title	Author	Institution	Ms. No.
शताक्षरनामधारणी Śatākṣaranāmadhāraṇī		IASWR	MBB-II-172
(आर्य)शीतवतीनामधारणी (Ārya)Śītavatīnāmadhāraṇī		"	MBB-II-172
शीलपारमिताधारणी Śīlapāramitādhāraṇī		"	MBB-II-172
षट्पारमिताहृदयनामधारणी Ṣaṭpāramitāhṛdayanāmadhāraṇī		"	MBB-II-172
(आर्य)षडक्षरीमहाविद्याधारणी (Ārya)Ṣaḍakṣarīmahāvidyādhāraṇī		"	MBB-II-172
षड्गतिस्तोत्र Ṣaḍgatistotra		CAMBRIDGE	Add.1614
(आर्य)षण्मुखीनामधारणी (Ārya)Ṣaṇmukhīnāmadhāraṇī		IASWR	MBB-II-172
सद्धर्मपाठनामधारणी Saddharmapāṭhanāmadhāraṇī		"	MBB-II-172
(आर्य)सद्धर्मलङ्कावतारसूत्रनामधारणी (Ārya)Saddharmalaṅkāvatārasūtranāmadhāraṇī		"	MBB-II-172
सप्तशतिकाप्रज्ञापारमिता Saptaśatikāprajñāpāramitā		"	MBB-II-172

Material	Script	Folio	Comp./Incomp.	Other Information
NP	N	(237a-b)	Comp.	
”	”	(184b-185b)	”	
”	”	(234b)	”	
”	”	(235a)	”	
”	”	(74-75b)	”	
Paper	”	9		
NP	”	(235-236a)	”	
”	”	(6a-b)	”	
”	”	(240b-242a)	”	
”	”	34	”	

Title	Author	Institution	Ms. No.
सप्ताक्षरस्तोत्र Saptākṣarastotra		CAMBRIDGE	Add.1614
सर्पनयविद्यानामधारणी Sarpanayavidyānāmadhāraṇī		IASWR	MBB-II-172
(आर्य)सर्वतथागतोष्णीषसितातपत्राना-मापराजितामहाप्रत्यङ्गिरामहाविद्याराज्ञी (Ārya)Sarvatathāgatoṣṇīṣasitātapatrānāmā-parājitāmahāpratyaṅgirāmahāvidyārājñī		"	MBB-II-172
सर्वदुर्गतिपरिशोधनराजतथागतसम्यक्-संबुद्धकल्पैकादश Sarvadurgatipariśodhanarājatathā-gatasamyaksaṁbuddhakalpaikādaśa		"	MBB-II-172
सर्वपापदहनीनामधारणी Sarvapāpadahanīnāmadhāraṇī		"	MBB-II-172
सर्वमङ्गलनामधारणी Sarvamaṅgalanāmadhāraṇī		"	MBB-II-172
सुखावतीव्यूह Sukhāvatīvyūha		CAMBRIDGE	Add.1368
सुजाताव्याकरण Sujātāvyākaraṇa		"	Add.1339

Material	Script	Folio	Comp./Incomp.	Other Information
Paper	N	8		
NP	"	(273b-274a)	Comp.	
"	"	(125b-136a)	"	
"	"	(116a-123a)	"	
"	"	(237a)	"	
"	"	(236b)	"	
Paper	"	35		
"	"	(122b-124b)	"	

Title	Author	Institution	Ms. No.
(आर्य)सुवर्णप्रभासोत्तमसूत्रेन्द्रराज- सर्वबुद्धबोधिसत्त्वानामधारणीसूत्र (Ārya)Suvarṇaprabhāsottama- sūtrendrarājasarvabuddha- bodhisattvānāmadhāraṇīsūtra		IASWR "	MBB-II-172 MBB-II-172
(आर्यश्री)सुवर्णप्रभासोत्तमसूत्रेन्द्रराज- श्रीमहादेवीधारणीसूत्र (Āryaśrī)Suvarṇaprabhā- sottamasūtrendrarājaśrīmahā- devīdhāraṇīsūtra		"	MBB-II-172
(आर्यश्री)सुवर्णप्रभासोत्तमसूत्रेन्द्रराज- श्रीसरस्वतीदेवीधारणी (Āryaśrī)Suvarṇaprabhāsottama- sūtrendrarājaśrīsarasvatīdevīdhāraṇī		"	MBB-II-172
(आर्य)सुविक्रान्तविक्रामिपरिपृच्छा- प्रज्ञापारमितानिर्देशसार्द्धद्विसहस्त्रिका- भगवत्यार्यप्रज्ञापारमिता (Ārya)Suvikrāntavikrāmipari- pṛcchāprajñāpāramitānirdeśa- sārddhadvisahasrikā- bhagavatyāryaprajñāpāramitā		CAMBRIDGE	Add.1543
सोपाचारतमोषण्मुखीधारणी Sopācāratamoṣaṇmukhīdhāraṇī		IASWR	MBB-II-172

Material	Script	Folio	Comp./Incomp.	Other Information
NP	N	(238a-239a)	Comp.	
”	”	(87b-88a)	”	
”	”	(210a-213a)	”	
”	”	(207-210b)	”	
Palm leaf	”	113		XIIth Cent.
NP	”	(63a-b)	”	

Title	Author	Institution	Ms. No.
स्वल्पाक्षरभगवतीप्रज्ञापारमिता-शतनामधारणी Svalpākṣarabhagavatīprajñāpāramitā-śatanāmadhāraṇī		IASWR	MBB-II-172
(आर्य)हलाहलहृदयनामधारणी (Ārya)Halāhalahṛdayanāmadhāraṇī		"	MBB-II-172
(श्री)हेरुकरक्षामन्त्र (Śrī)Herukarakṣāmantra		"	MBB-II-172
(श्री)हेरुकसर्वरोगप्रशमनीनामधारणी (Śrī)Herukasarvarogapraśamanī-nāmadhāraṇī		"	MBB-II-172
हुताशनतेजोराजनामधारणी Hutāśanatejorājanāmadhāraṇī		"	MBB-II-172
हेमगाथानामधारणी Hemagāthānāmadhāraṇī		"	MBB-II-172

Material	Script	Folio	Comp./Incomp.	Other Information
NP	N	(34-36)	Comp.	
"	"	(61a-62a)	"	
"	"	(161b)	"	
"	"	(161b-162a)	"	
"	"	(161a-161b)	"	
"	"	(160a-161a)	"	

•

न सन्नासन्न सदसन्न चाप्यनुभयात्मकम् ।
चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिका विदुः ॥

सदसत्सदसच्चेति यस्य पक्षो न विद्यते ।
उपालम्भश्चिरेणापि तस्य वक्तुं न शक्यते ॥

उद्धृत अमृतकणिकोद्योत- पृ० 134

पञ्चरक्षा देवियों के विविध स्वरूप

—ठाकुरसेन नेगी—

[प्रस्तुत लेख में पञ्चरक्षा देवियों महाप्रतिसरा, महामायूरी, महासहस्त्रप्रमर्दिनी, महाशीतवती और महामन्त्रानुसारिणी के विविध स्वरूप पर विवेचन किया गया है। पञ्चरक्षा देवियों की धारणी-मन्त्रों का जाप सभी प्रकार की व्याधियों, भयों एवं दुष्टात्माओं से मुक्ति प्रदान करता है। इन मन्त्रों के जप से वैभव एवं सम्पन्नता में भी वृद्धि होती है।]

वज्रयान में रक्षा देवियों के रूप में पाँच देवियों के पूजन की परम्परा लोकप्रिय है, जिन्हें पञ्चरक्षा देवियाँ कहा गया है। जैसे ब्राह्मणों के घर में देवी माहात्म्य-चण्डी एवं श्रीमद्भगवद्गीता का स्थान है, वही स्थान बौद्धों के घर पञ्चरक्षा ग्रन्थ का था। पञ्चरक्षा देवियों में—1. महाप्रतिसरा, 2. महामायूरी, 3. महासहस्त्रप्रमर्दिनी, 4. महाशीतवती तथा 5. महामन्त्रानुसारिणी हैं[1], जो वास्तव में पाँच विद्याएं(विद्याराज्ञी) हैं। इसी कारण इन्हें बौद्ध धर्म में विशेष पवित्र मानकर महत्त्व दिया गया तथा कालान्तर में इनके देवरूप की कल्पना की गयी। पञ्चरक्षा देवियाँ बौद्ध उपासकों की सांसारिक कष्टों एवं विघ्नों से रक्षा करती हैं तथा उन्हें मनोवाञ्छित वस्तुएं प्रदान करती हैं।

पञ्चरक्षा— 1. महाप्रतिसरा—पाप, व्याधि एवं अन्य बुराइयों की रक्षा हेतु।
2. महामायूरी—सर्प विष को शान्त करने के लिए।
3. महासहस्त्रप्रमर्दिनी—दुष्ट आत्माओं के नाश के लिए।
4. महाशीतवती—दुष्ट ग्रहों, जंगली पशुओं एवं विषैले जन्तुओं के दमन के लिए।
5. महामन्त्रानुसारिणी—व्याधियों के शान्ति के लिए।

इन देवियों के धारणी-मन्त्र का श्रवण, लेखन, वाचन मात्र से मनोवाञ्छित परिणाम मिलते हैं। इन पञ्चरक्षा धारणी-मन्त्र के प्रयोजन के विषय में भगवान् बुद्ध कहते

---

1. The collection of five Dhāraṇīs, entitled "Pañcarakṣā" ("The five Protecting spells"), is extremely popular in Nepal. It is composed of—1. Mahāpratisarā, for protection against Sin, disease and other evils, 2. Mahāsahasrapramardinī, against evil spirits, 3. Mahāmāyūrī, for protection against poison of snake, 4. Mahāśītavatī, against hostile planets, wild animals and poisonous insects, and 5. Mahāmantrānusāriṇī, against diseases. (Indian Buddhism, by Hajime Nakamura, p. 317)

हैं कि जो भी कुलपुत्र या कुलपुत्री इन धारणी-मन्त्रपदों को धारण करेगी, वाचन करेगी एवं अनुभव करेगी, उन्हें कोई भी शत्रु किसी भी प्रकार का कष्ट नहीं पहुँचा सकता। बुद्ध आगे कहते हैं कि यदि कोई दुर्दैव आ जाये तो इन धारणी-मन्त्रों का 108 बार जप करना चाहिए, तब सभी दुष्ट प्रवृत्तियाँ वहाँ से समाप्त हो जायेंगी तथा अन्य दिशाओं में रोती-चिल्लाती हुई वहाँ से दूर चली जायेगी।

साधनमाला में (1) महाप्रतिसरा, (2) महासहस्रप्रमर्दिनी, (3) महामायूरी, (4) महामन्त्रानुसारिणी और (5) महाशीतवती देवियों के मुकुट पर क्रमशः रत्नसंभव, वैरोचन, अमोघसिद्धि, अक्षोभ्य और अमिताभ बुद्धों की अनुकृति होती है। ये रक्षा देवियाँ[1] उपर्युक्त पञ्चबुद्धों की शक्तियों (लोचना, मामकी, पाण्डरा, तारा और वज्रधात्वीश्वरी) से सर्वथा भिन्न है। नेपाल में आज भी बौद्ध गृहस्थ उसी प्रकार पञ्चरक्षा ग्रन्थ रखते हैं जैसे ब्राह्मण धर्मावलम्बी देवीमाहात्म्य-चण्डी रखते हैं।

पञ्चरक्षा देवियों में महामायूरी विद्या सर्वाधिक प्राचीन है, जिसका उल्लेख चौथी से आठवीं शती ई० के मध्य मञ्जुश्रीमूलकल्प में मिलता है।[2] पञ्चरक्षा देवियों की कल्पना 11वीं शती ई० तक हुई। इन देवियों के सामूहिक अंकन का उदाहरण 11वीं शती ई० के उत्तरार्ध के पालकालीन हस्तलिखित ग्रन्थों में मिलता है जो कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में सुरक्षित है।

पञ्चरक्षा—साधनमाला और निष्पन्नयोगावली के अतिरिक्त धारणीसंग्रह, धर्मकोश आदि ग्रन्थों में भी इन पञ्चरक्षा देवियों के वर्णन मिलते हैं। नीलवर्ण वाली महासहस्रप्रमर्दिनी देवी अतिभयंकर और शेष चार को शान्त स्वरूपा दिखाई गई है। सर्पविष का हरण करने वाली महामायूरी[3] के हाथ में मयूर-पिच्छ का दिखाया जाना

---

1. पञ्चरक्षा—1. महाप्रतिसरा—यह अपुण्य, व्याधि एवं पापों में रक्षण हेतु उल्लिखित है। 2. महासाहस्रप्रमर्दिनी—पापात्माओं के नाश के लिए, 3. महामायूरी—सर्प-विष के दूरीकरण के लिए, 4. महाशीतवती—यह पापग्रहों, हिंसक पशुओं और विषैले कीटाणुओं के नाश के लिए तथा 5. महामन्त्रानुसारिणी-विविध प्रकार के व्याधियों के शान्ति के लिए है।
2. मञ्जुश्रीमूलकल्प, प्रथम परिवर्त, पृ० 7
3. मूलसर्वास्तिवाद भैषज्यवस्तु में विष निवारण के लिए मन्त्रों का प्रयोग किया गया है तथा महामायूरी विद्या के द्वारा विष निवारण का वर्णन प्राप्त होता है। स्वाति नामक एक नवागन्तुक भिक्षु को दारु पाटन करते समय सर्प ने काट लिया था। भिक्षुओं ने जब वैद्य से चिकित्सा करने का आग्रह किया तो वैद्य ने विकृत भोजन कराने का निर्देश किया। भिक्षुसंघ विकृत भोजन का अर्थ नहीं जानते थे। तब भगवान् ने उच्चार, प्रस्राव, छायिका और मृत्तिका को विकृत भोजन बताया। विकृत भोजन से स्वस्थ नहीं होने पर

अर्थपूर्ण और सर्प तथा मयूर के सम्बन्धों का संकेत देता है। द्वादशभुजी महामन्त्रानुसारिणी के हाथ धर्मचक्रप्रवर्तनमुद्रा तथा ध्यानमुद्रा में होते हैं। इन देवियों को वज्रपर्यङ्कासन, ललितासन और सत्त्वपर्यंकासन में दिखाया गया है। पञ्चरक्षा स्वरूप की देवियों में उग्र और सौम्य दोनों ही प्रकार की देवियों के समन्वित रूप के दर्शन होते हैं।

1. महाप्रतिसरा

साधनमाला (साधन सं० 194) में यह देवी पीतवर्णा, त्रिनेत्रा, चतुर्मुखी एवं अष्टभुजी है। इनका मूलमुख पीतवर्ण, दक्षिणमुख सितवर्ण, पश्चिममुख नीलवर्ण एवं वाममुख रक्तवर्ण है। इनके दायें हाथों में खड्ग, चक्र, त्रिशूल एवं बाण तथा बायें हाथों में परशु, चाप, पाश एवं वज्र है। देवी के मुकुट पर रत्नसंभवबुद्ध अंकित है।

"भगवतीं महाप्रतिसराम् ...पीतां चतुर्मुखां त्रिनेत्रामष्टभुजां प्रथममुखं पीतं दक्षिणं सितं पश्चिमं नीलं वामं रक्तं दक्षिणभुजैः खड्गचक्रत्रिशूलशरधरां वामभुजैः परशुचापवज्रधरां विश्वपद्मचन्द्रासने ललिताक्षेपसंस्थितां रक्तप्रभामण्डलां सर्वाभरणभूषिताम्"।

(साधन सं० 194, पृ० 396)

साधनमाला (साधन सं० 201) में यह देवी पीतवर्णा, त्रिमुखी, त्रिनेत्री एवं दशभुजी हैं। इनके दायें हाथों में खड्ग, वज्र, बाण, वरद(मुद्रा) एवं छत्र तथा बायें हाथों में चाप, ध्वज, रत्नछटा, परशु एवं शंख हैं। मुकुट पर रत्नसम्भवबुद्ध अंकित है।[1]

"महाप्रतिसरा पीता त्रिमुखी प्रतिमुखं त्रिनयना दशभुजा कृष्णसितदक्षिणेतरवदना दक्षिणपञ्चभुजेषु यथाक्रमं खड्गवज्रबाणवरदहृदयशायिहस्तस्थछत्राणि तथा वामपञ्चभुजेषु चापध्वजरत्नच्छटापरशुशङ्खाः रत्नसंभवमुकुटीम्।" (साधन सं० 201, पृ० 401-402)

निष्पन्नयोगावली में यह देवी पीतवर्णा, चतुर्मुखा एवं द्वादशभुजी है। इनके मूलमुख पीतवर्ण, दक्षिणमुख सित(श्वेतवर्ण), पश्चिमुख नीलवर्ण एवं वाममुख रक्तवर्ण है। इनके दायें हाथों में रत्नछटा, चक्र, वज्र, बाण, खड्ग एवं वरदमुद्रा तथा बायें हाथों में वज्र, पाश, त्रिशूल, धनुष, परशु एवं शंख हैं।

महामायूरीविद्या का स्तवन (स्तुति) किया गया, जिससे स्वाति नामक भिक्षु स्वस्थ हो गया। इसका विस्तृत वर्णन सर्प चिकित्सा एवं महामायूरी मन्त्र के स्थान पर किया गया है। (सर्वास्तिवाद भैषज्यवस्तु, पृ० 172)

1. इण्डियन बुद्धिस्ट आइकोनोग्राफी, बी० भट्टाचार्य, पृ० 116

"महाप्रतिसरा पीताभरक्तप्रभामण्डला चतुर्मुखा मूलमुखं पीतं सव्यं सितं पश्चिमं नीलं वामं रक्तं दक्षिणेन रत्नच्छटाचक्रवज्रशरखड्गवरदमुद्रा वामैर्वज्रपाशं त्रिशूलं धनुः परशुं शङ्खं च विभ्रतीति द्वादशभुजा चैत्यालङ्कृतशिरस्का वज्रपर्यङ्कासीना।

(निष्पन्नयोगावली, पृ० 42)

2. महासहस्रप्रमर्दिनी

साधनमाला (साधन सं० 198) में यह देवी श्वेतवर्णा, एकमुखी एवं षड्भुजी है। इनके दायें हाथों में खड्ग, बाण एवं वरदमुद्रा तथा बायें हाथों में धनुष, पाश एवं परशु हैं। यह विचित्र अलङ्कारों से अलङ्कृत पूर्ण यौवन सम्पन्न रूप में स्थित है। इनके मुकुट पर वैरोचनबुद्ध अंकित है।

"महासहस्रप्रमर्दनी शुक्लामेकमुखीं षड्भुजां दक्षिणत्रिभुजेषु खड्गबाणवरदमुद्राः, वामत्रिभुजेषु धनुः पाशपरशवः विचित्रालङ्कारधरां रूपयौवनशृङ्गारवतीं वैरोचनकिरीटयुक्ताम् ...।" (साधन सं० 198, पृ० 400)

साधनमाला (साधन सं० 206) में यह देवी नरकपालमाला से अलङ्कृत, चतुर्मुखी एवं अष्टभुजी हैं। इनके दायें हाथों में वरदवज्र, अङ्कुश, बाण एवं खड्ग तथा बायें हाथों में तर्जनीपाश, परशु, धनुष एवं पद्म पर 16(सोलह) रत्न हैं।

"महासहस्रप्रमर्दनी कृष्णवर्णा पिङ्गलोर्ध्वकेशा नरकपालालङ्कृता ...तस्या दक्षिण प्रथमभुजे वरदवज्रं द्वितीये अङ्कुशं तृतीये शरं चतुर्थे खड्गं वामप्रथमभुजे तर्जनीपाशं द्वितीये परशुं तृतीये धनुः चतुर्थे पद्मोपरि षोडशरत्नम्, तस्या मूलमुखं कृष्णं दक्षिणे श्वेतं पृष्ठे पीतं वामे हरितं सर्वं त्रिनेत्रम्, नानारत्नाद्यलङ्कृतशरीरा।" (साधन सं० 206, पृ० 406-407)

निष्पन्नयोगावली में यह देवी श्वेतवर्णा, चतुर्मुखी एवं दशभुजी है। वे ललिताक्षेप-मुद्रा में चन्द्रप्रभा मण्डल पर आसीन हैं। इनका मूलमुख सित, दक्षिणमुख कृष्ण, पृष्ठमुख पीत एवं वाममुख हरितवर्णा है। इनके दायें हाथों में पद्म पर आठचक्र, वरद(मुद्रा), अङ्कुश, बाण एवं खड्ग तथा बायें हाथों में वज्र, तर्जनी, पाश, धनुष एवं पाश हैं।

"महासहस्रप्रमर्दिनी विश्वाम्भोजचन्द्रे ललिताक्षेपेण निषण्णा शुक्ला चन्द्रप्रभा-मण्डला चतुर्मुखी मूलं सितं सव्यं कृष्णं पृष्ठं पीतं वामं हरितं सव्यभुजैः पद्मस्थाष्टारचक्रं वरदमङ्कुशं बाणकृपाणञ्च वामैर्वज्रतर्जनीं पाशं धनुः पाशञ्चेति दशभुजा।"

(निष्पन्नयोगावली, पृ० 42)

नयपाल[1] के शासनकाल के पञ्चरक्षा में यह देवी पीतवर्णा, एकमुखी एवं षड्भुजी हैं। इनके दायें के तीन हाथों में से एक हाथ में खड्ग, दूसरे में बाण व तीसरा वरदमुद्रा में स्थित तथा बायें के तीन हाथों में से एक हाथ में धनुष दूसरे में पाश एवं तीसरा वक्षस्थल के निकट है तथा इस हाथ में रखी वस्तु अस्पष्ट है। वे ललित ज्वाला स्वरूप प्रत्यालीढमुद्रा में स्थित है।

3. महामायूरी

साधनमाला (साधन सं० 197) में यह देवी हरितवर्णा, त्रिनेत्रा, त्रिमुखी एवं षड्भुजी है। इनके दायें हाथों में मयूरपंख, बाण एवं (एक हाथ) वरदमुद्रा तथा बायें हाथों में रत्नछटा, धनुष(चाप) एवं कलश हैं। अर्द्धपर्यङ्कासन में स्थित देवी के मुकुट पर अमोघसिद्धबुद्ध अंकित है।

''महामायूरीं हरितवर्णां त्रिमुखां षड्भुजां प्रतिमुखं त्रिनेत्रां कृष्णशुक्ल दक्षिणेतरवदनां दक्षिणत्रिहस्तेषु यथाक्रमं मयूरपिच्छबाणवरदमुद्राः तथा वामत्रिहस्तेषु रत्नच्छटाचापोत्सङ्गकलशा विचित्राभरणां शृङ्गाररसां नवयौवनाम् ...अर्द्धपर्यङ्किनीममोघ-सिद्धिमकुटाम्।'' (साधन सं० 197, पृ० 400)

साधनमाला (साधन सं० 206) में यह देवी पीतवर्णा, त्रिनेत्रा, त्रिमुखी एवं अष्टभुजी हैं। इनके मूलमुख पीतवर्ण, दायां मुख कृष्णवर्ण तथा बायां मुख रक्तवर्ण है। इनके दायें हाथों में वरद(मुद्रा), रत्नघट, चक्र एवं खड्ग तथा बायें हाथों में पात्र के ऊपर भिक्षु, मयूरपिच्छ, घण्टा पर विश्ववज्र एवं रत्नध्वज हैं।

''महामायूरी पीतवर्णा सूर्यमण्डलालीढा सत्त्वपर्यङ्किनी त्रिमुखा त्रिनेत्रा अष्टभुजा रत्नमुकुटिनी सर्वाभरणभूषिता तस्या दक्षिणप्रथमभुजे वरदं द्वितीये रत्नघटधरा तृतीये चक्रं चतुर्थे खड्गं वामप्रथमभुजे पात्रोपरि भिक्षुं द्वितीये मयूरपिच्छं तृतीये घण्टोपरि विश्ववज्रं चतुर्थे रत्नध्वजम्, ततो मूलमुखं पीतं दक्षिणे कृष्णं वामे रक्तम्।'' (साधन सं० 206, पृ० 407)

---

1. राजा नयपाल बौद्ध शासक था। उसने वज्रासन, विक्रमशील को संरक्षण प्रदान किया तथा दीपंकर श्रीज्ञान, जेतारि व ज्ञानश्रीमित्र आदि बौद्ध आचार्य उनके समकालीन थे। नयपाल व चेदिनरेश कर्ण के मध्य हुए संघर्ष में जब विजयश्री नयपाल के पक्ष में आयी तथा कर्ण की सेना को मगध सेना द्वारा कुचला जाने लगा तब दीपङ्करश्रीज्ञान ने कर्ण व उनकी सेना की रक्षा की तथा दोनों नरेशों के मध्य सन्धि कराने का श्रेय भी उन्हें दिया गया। (जनरल ऑफ बुद्धिस्ट टेक्स्ट सोसायटी, जिल्द-I, पृ० 9)

नयपाल के शासनकाल में 14वें वर्ष चैत्रमास के 27वें दिन लिखी गयी ''पञ्चरक्षा'' की हस्तलिखित प्रतिलिपि कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के संग्रह में सुरक्षित है। (कैटलॉग ऑफ संस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट इन द युनिवर्सिटी लाइब्रेरी कैम्ब्रिज, पृ० 175, सं० 1688)

निष्पन्नयोगावली में यह देवी हरितवर्णा, त्रिमुखी एवं अष्टभुजी हैं। मुख्यमुख हरितवर्ण, दायां मुख कृष्णवर्ण तथा बायां मुख श्वेतवर्ण हैं। इनके दायें हाथों में मयूरपिच्छ, बाण, वरदमुद्रां एवं खड्ग तथा बायें हाथों में भिक्षु, धनुष, रत्नछटा(वरसाता हुआ) घट एवं विश्ववज्र चिह्नित ध्वज हैं।

"महामायूरी हरिता हरितकृष्णशुक्लमूलसव्येतरवक्त्राऽष्टभुजा सव्यैर्मयूरपिच्छं बाणं वरदं खड्गं च वामैः पात्रोपरि भिक्षुं चापमुत्सङ्गस्थरत्नच्छटावर्षिघटं विश्ववज्ररत्नाङ्कध्वजं च।" (निष्पन्नयोगावली, पृ० 42)

नयपाल शासनकाल के चौदहवें वर्ष की पञ्चरक्षा में महामायूरी[1] देवी स्वर्णवर्णा एवं षड्भुजी है। देवी कमलासन पर वज्रपर्यङ्कमुद्रा में आसीन है। इनके दायें हाथों में से एक में मयूरपिच्छ, दूसरे में बाण एवं तीसरा वरदमुद्रा में तथा बाये हाथों में से एक में रत्नच्छटा, दूसरे में धनुष तथा तीसरा वक्षस्थल के निकट है और इस हाथ में रखी वस्तु अस्पष्ट है।

सर्पदंश चिकित्सा एवं महामायूरी मन्त्र

मूलसर्वास्तिवादविनयवस्तु के भैषज्यवस्तु प्रकरण में सर्पविषदंश की चिकित्सा का उल्लेख मिलता है। एक बार श्रावस्ती में जेन्ताक नामक गृहपति ने भिक्षुसंघ सहित भगवान् बुद्ध को निमन्त्रित किया। उस भिक्षुसंघ में स्वाति नामक एक नवीन प्रव्रजित हुए तरुण युवक ने ज्यों ही दारु पाटन आरम्भ किया त्यों ही पाटित काष्ठ के सुषिर खण्ड से एक सर्प(आशीविष) निकला और उसने आयुष्मान् स्वाति के दक्षिण पादाङ्गुष्ठ को डस लिया (स काष्ठं पाटयितुमारब्धो यावदन्यतमस्मात्पूतिदारुसुषिरान्निष्क्रम्याशीविषेण दक्षिणे पादाङ्गुष्ठे दष्टः)। (मूलसर्वास्तिवाद भैषज्यवस्तु, पृ० 170)

तब वह विष से मूर्छित होकर भूमि पर गिर पड़ा और उसके मुख से लालास्राव प्रवाहित होने लगा, उसका मुख सूखने लगा तथा नेत्र पलट गये। उसकी इस दशा को

1. श्रीमित्र—वह त्सिन-सम्राट हु-आई-ती के राज्य काल (307-312 ई०) में चीन गया था, किन्तु उत्तर चीन में फैले तत्कालीन उपद्रवों के कारण वह दक्षिण चीन चला गया और वहीं नानकिंग में 317 ई० से 323 ई० तक रहा। उस अवधि में उसने मन्त्र-शास्त्र पर अनेक गुह्य ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया। उसकी प्रमुख कृति 'महामायूरीविद्याराज्ञीसूत्र' है, उसने अपने सिद्धान्तों का असली रहस्य अपने दो एक विश्वासपात्र शिष्यों को छोड़कर सर्वसाधारण पर नहीं प्रकट किया। (चीन में बौद्ध धर्म का इतिहास, पृ० 41 एवं 174)

देखकर इसकी सूचना भिक्षु संघ को दी गयी। भगवान् बुद्ध ने वैद्य को बुलाकर चिकित्सा करने का निर्देश दिया। वैद्य ने आते ही भिक्षुओं से विकृत भोजन लाने के लिए कहा। जब इस तथ्य की ओर भगवान् का ध्यान दिलाया गया, तब उन्होंने कोई आपत्ति नहीं की और वैद्य जो भी उपचार चाहे वैसा करने का निर्देश दिया। भिक्षु विकृत भोजन से सर्वथा अपरिचित थे। जब भिक्षुओं ने वैद्य से विकृत भोजन के रहस्य को जानना चाहा, तब उन्होंने भगवान् बुद्ध से ही जान लेने का संकेत किया। भगवान् बुद्ध ने भिक्षुओं के द्वारा पूछने पर विकृत भोजन पर प्रकाश डाला।

भगवान् बुद्ध ने कहा—विष्टा या मल(उच्चार), मूत्र(प्रसाव), छाल(छायिका) एवं मृत्तिका ही विकृत भोजन है। इनमें से उच्चार प्रसाव उन्हीं का ग्राह्य है जो शीघ्र ही उत्पन्न हुए वत्स(बछड़ा) हैं। छायिका पाँच वृक्षों—कञ्चनार, कमीबल, अश्वत्थ(पीपल), उदुम्बर(गूलर) एवं न्यग्रोध(वट) का ही ग्राह्य है। भूमि के ऊपर की चार अंगुल मिट्टी हटाकर चार अंगुल नीचे की मिट्टी ही ग्राह्य है। इन्हीं सबका मिश्रण विकृत भोजन कहलाता है[1]।

भिक्षुओं ने वैद्य के परामर्शानुसार स्वाति को विकृत भोजन दिया, किन्तु स्वाति स्वस्थ नहीं हुआ और इसकी सूचना भगवान् बुद्ध को दी गयी। भगवान् बुद्ध ने अपने पास से महामायूरी विद्या का आनन्द को स्वाति की रक्षार्थ उपदेश दिया।

महामायूरीविद्या—परित्राण, परिग्रह, विषदूषण, दण्डपरिहार, विषनाशन, सीमाबन्धन एवं धारणीबन्धन भी करती है[2]।

इस प्रकार से भगवान् ने आनन्द को मन्त्र का उपदेश दिया, जिसे भदन्त आनन्द ने ग्रहण किया और प्रयोग करके भिक्षु स्वाति को निर्विष कर स्वस्थ कर दिया[3]।

---

1. भगवानाह—विकृतभोजनं भिक्षव उच्चारः प्रस्रावश्छायिका मृत्तिका च। तत्र उच्चारः अचिरजातकानां वत्सकानां तेषामेव च प्रस्रावः। छायिका पञ्चानां वृक्षाणाम्। काञ्चनस्य कमीबलस्याश्वत्थस्योदुम्बरस्य न्यग्रोधस्य। मृत्तिका पृथिव्यां चतुरङ्गुलमपनीयोद्धतव्या इति विकृतभोजनमिति। (मूलसर्वास्तिवाद-भैषज्यवस्तु, पृ० 171)
2. परित्राणं परिग्रहं विषदूषणं दण्डपरिहारं विषनाशनं सीमाबन्धं धरणीबन्धं च। (मूलसर्वास्तिवाद-भैषज्यवस्तु, पृ० 171)
3. तद्यथा अमले विमले निर्मले मंगले हिरण्ये हिरण्यगर्भे भद्रे सुभद्रे समन्तभद्रे श्रीभद्रे सर्वार्थसाधिनि परमार्थसाधिनि सर्वार्थप्रशमनि सर्वमङ्गल्य साधनि मनसे महामनसे अच्युते अद्भुते अत्यद्भुते मुक्ते मोचनि मोक्षणि। अरजे विरजे अमृते अमरे(अमरणि) ब्रह्मे ब्रह्मस्वरे पूर्णे पूर्णमनोरथे मुक्ते जीवते रक्ष स्वातिं सर्वोपद्रवभयरोगेभ्यः स्वाहाः। (मूलसर्वास्तिवाद भैषज्यवस्तु, पृ० 171)

भिक्षुओं के संशय होने पर भगवान् बुद्ध ने उनके संशय के निवारणार्थ महामायूरीविद्या के रहस्य को कहा—

प्राचीनकाल में हिमालय पर्वत के दक्षिण पार्श्व में 'सुवर्णावभास' नामक एक मयूरराज रहता था। जो प्रात:कालीन एवं सायंकालीन महामायूरीविद्या का स्तवन(स्तुति) करके पर्वत पर भ्रमण किया करता था। वह किसी समय अनेक वन-मयूरियों के साथ काम-क्रीडा करता हुआ वन के उद्यानों एवं पर्वत-प्रान्तों में भ्रमण करने लगा। वह इतना काम-विह्वल था कि भ्रमवश अन्य पर्वत के ही विवर में प्रवेश कर मूर्छित हो गया, परन्तु जब उसे चेतना आयी तब वह उसी महामायूरीविद्या को मन ही मन जपने लगा, जिससे उसे नागपाश से मुक्ति मिल गयी[1]।

महामायूरीविद्या का उपयोग—बावर पाण्डुलिपि के 'नावनीतकम्[2]' के 'अगदतन्त्र' में महामायूरीविद्या का उल्लेख प्राप्त होता है। यह वर्णन भी 'स्वाति सर्पदंश' से साम्य रखता है तथा इस मन्त्र का उपयोग निम्नलिखित कार्यों के लिए किया गया है—देवग्रह, नागग्रह, असुरग्रह, मरुतग्रह, गरुडग्रह, गन्धर्वग्रह, किन्नरग्रह, महोरगग्रह, यक्ष, राक्षस, प्रेत, पिशाच, भूत, कूष्माण्ड, पूतना, कटपूतना, स्कन्द, उन्माद, छायाग्रह, अपस्मारग्रह एवं ओस्तारकग्रहों से निवारणार्थ तथा ग्रहबाधाओं[3] के अतिरिक्त अनेक शारीरिक विकारों में भी महामायूरीविद्या द्वारा लाभ होने का निर्देश मिलता है और वे रोग इस प्रकार हैं—एकाहिक, द्वितीयक, तृतीयक, चातुर्थक, साप्ताहिक, पाक्षिक, मासिक, इस

---

1. मूलसर्वास्तिवाद विनयवस्तु भैषज्यवस्तु, पृ० 172
2. बावर हस्तलिखित ग्रन्थ नावनीतकम्—

   इस ग्रन्थ की हस्तलिखित प्रति 1890 ई० में पूर्वी तुर्कीस्तान के कंछार नामक स्थान में कर्नल एच० बावर को प्राप्त हुई थी, जो भारत सरकार के काम से वहाँ गये थे। इस ग्रन्थ का अध्ययन ए० एफ० रुडॉल्फ हार्नले ने किया। यह तीन खण्डों में भारत सरकार के पुरातत्व विभाग द्वारा 1912 ई० में प्रकाशित हुई। आयुर्वेद जगत् के समक्ष कविराज बलवन्त सिंह मोहन द्वारा सम्पादित होकर 1925 में आई। यह ग्रन्थ सात विभिन्न पाण्डुलिपियों का समुच्चय(संग्रह) है। इसका अन्तिम लेखक यशोमित्र नामक बौद्ध भिक्षु था जो स्थानीय बौद्ध विहार का प्रधान भिक्षु था। यह ग्रन्थ चिकित्सकों के व्यवहार के लिए बनाया गया था। उस समय बौद्ध भिक्षु रोगियों की सेवा करते थे, संभवत: उन्हीं के उपयोग के लिए प्रचलित योगों का यह संकलन ग्रन्थ है। (बावर हस्तलिखित ग्रन्थ, नावनीतकम्, षष्ठ-सप्तम प्रकरण, पृ० 144-48)
3. 'नावनीतकम्' में महामायूरीविद्या के प्रकरण में ग्रहों का विवेचन है। महामायूरी मन्त्र के जप करने से देव, नाग, असुर, मरुत, गरुड, गन्धर्व, किन्नर, महोरग, यक्ष, राक्षस, प्रेत, पिशाच, भूत, कूष्माण्ड, पूतना, कटपूतना, स्कन्धग्रह, उन्मादग्रह, छायाग्रह, अपरस्मारग्रह एवं ओस्तारक आदि ग्रहों के प्रभावों का शमन होता है।

प्रकार के ज्वर, नित्यज्वर, विषमज्वर, वात्तिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक एवं सन्निपातिकज्वर, शिरोरुजा, अर्धावभेदक(अधकपारी), अरोचक, अक्षिरोग, नासारोग, कण्ठरोग, हृदयरोग, कर्णशूल, दन्तशूल, हृदयशूल, पार्श्वशूल, उदरशूल, वस्तिशूल, उरुशूल, जंघाशूल, हस्तशूल एवं अंग-प्रत्यङ्गों में होने वाले शूलों का अपनयन होता है।

मन्त्र प्रयोग—इस मन्त्र का उपदेश देते हुए भगवान् बुद्ध ने आनन्द से कहा कि इस विद्या का उपयोग शान्त मन से करना चाहिए। इस विद्या का उपयोग ग्राम, अरण्य, मार्ग, उत्पथ, राजकुल के मध्य याचकों के मध्ये, विवादस्थल, सर्पदंश, विषपान कर लेने पर एवं समस्त सन्निपात पीड़ित अवस्थाओं में करना चाहिए।

महामायूरी मन्त्र—"इडि-विडि-द्विविडि-निडे-अडे-याडे, दृगडे, हरिवेग्रडि पांशु पिशाचिनि-आरोहनि-आरोहणे-एले मेले-तिले-किले-मेले-मिले-मिपि-दुमिपे-इट्टि-मिट्टी-विष्टब्ध-विमले-हुहु-हुहु-अश्वमुखि-काट्टि-महाकाडि-प्रकीर्णकेशी-कुलकुलु वस्फलु-कोलु-कोलु-धोसादुम्बा-दोदुम्बा-दुम-दुम्ब-गोलाय-शेलाय-हिशु-हिलि-हिमिलि-मिलि-तिलि-तिलि-चुचु-चुलु-मुलु-मुलु-मुलु-मुलु-मुलु-हुहु-हुहु-हुहु-हुहु-हुहु वपा-वपा-वपा-वपा-वपा-जल-जल-जल-जल-जल-दम(दमनी), (तापिनी, पाचिनी-ज्वलनी) दुन्दुभी-गर्जनी, वर्षणी-स्फोटनी-पतनी-पाचनी-हारिणी-कंपनी-मदनी-मण्डनी (दुम्बनी-सुकसा)क्त मे गोलाय: परिवेलाय वषतु-देवो समंतेन इलि किसी स्वाहा।

(नावनीतक, षष्ठ प्रकरण, पृ० 144)

महामायूरी का अभिधान विद्याराज्ञी(गुप्तविज्ञानों की रानी) भी है। इसमें सर्पों के विरुद्ध मयूरों की शत्रुता का उल्लेख हुआ है और इसी कारण इसे महामायूरी नाम दिया गया है। इसके अतिरिक्त इसका प्रयोग व्याधियों के निवारण हेतु भी होता है। महाकवि बाण ने (कादम्बरी में) इस बात का वर्णन किया है कि किस प्रकार हर्षवर्धन अपने रुग्ण पिता, जो मृत्यु शय्या पर पड़े हैं, के महल में प्रवेश करते हैं और किस प्रकार से उनके स्वास्थ्य-लाभ हेतु नानाविध पूजापाठ एवं धार्मिक क्रियाएं होती हैं और उन्हीं के साथ महामायूरी का भी पाठ होता है।

4. महामन्त्रानुसारिणी

साधनमाला (साधन सं० 199) में यह देवी नीलवर्णा, एकमुखी तथा चतुर्भुजी है। इनके दायें हाथों में वज्र एवं वरदमुद्रा तथा बायें हाथों में परशु एवं पाश हैं। इस देवी के मुकुट पर अक्षोभ्यबुद्ध अंकित है।

''महामन्त्रानुसारिणी चतुर्भुजैकमुखी कृष्णा दक्षिणभुजद्वये वज्रवरदवती वामभुजद्वये परशुपाशवती हुँकारबीजा अक्षोभ्यकिरीटिनी सूर्यासनप्रभा चेति।''

(साधन सं० 199, पृ० 401)

साधनमाला (साधन सं० 206) में यह देवी शुक्लवर्णा, त्रिमुखी, त्रिनेत्रा एवं द्वादशभुजी है। इनके चार हाथ धर्मचक्र एवं समाधिमुद्रा में तथा अन्य शेष हाथों में वरद, अभय(मुद्रा), वज्र, बाण, तर्जनी-पाश, धनुष रत्न तथा पद्माङ्कित कलश है। ये नवयौवना सम्पन्न सभी अलङ्कारों से सुशोभित (प्रज्वलित) सूर्यमण्डल पर आसीन है।

महामन्त्रानुसारिणीं शुक्लवर्णां द्वादशभुजां त्रिमुखां त्रिनेत्रां स्फुरत्सूर्यमण्डलालीढां रत्नमुकुटिनीं सर्वालङ्कारशोभितां नवयौवनोपेताम्, तस्याः प्रथमभुजाभ्यां धर्मचक्रमुद्रा द्वितीयभुजाभ्यां समाधिमुद्रा तृतीये वरदः चतुर्थे अभयः पञ्चमे वज्रं षष्ठे शरः तृतीये (सप्तमे) तर्जनीपाशः चतुर्थे (अष्टमे) धनुः पञ्चमे (नवमे) रत्नच्छटा षष्ठे (दशमे) पद्माङ्कितकलशः, मूलमुखं शुक्लं दक्षिणे कृष्णं वामे रक्तम्, नानाकुसुमाभिकीर्णा...।'' (साधन सं० 206, पृ० 408)

निष्पन्नयोगावली में यह देवी कृष्णवर्णा, त्रिमुखी एवं द्वादशभुजी है। ये वज्रपर्यङ्क में सूर्यमण्डल पर आसीन है। इनके प्रथम दो हाथ धर्मचक्रमुद्रा, द्वितीय दो हाथ समाधिमुद्रा में तथा शेष अन्य हाथों में वज्र, बाण, वरद, अभयमुद्रा, तर्जनी-पाश, धनुष, रत्नच्छटा एवं पद्माङ्कित कलश है।

''महामन्त्रानुसारिणी वज्रपर्यङ्किणी कृष्णा कृष्णसितरक्त मूलसव्यवामुखी द्वादशभुजा सव्येतराभ्यां धर्मचक्रमुद्रां बिभ्राणाऽपराभ्यां समाधिमुद्रामपरैर्दक्षिणैर्वज्रबाणवरदाभयमुद्रा वामैस्तर्जनीपाशं चापं रत्नच्छटां पद्माङ्कितकलशं च।''

(निष्पन्नयोगावली (पञ्चरक्षामण्डल), पृ० 42)

नयपाल के शासनकाल के चौदहवें वर्ष की पञ्चरक्षा में यह देवी पीत (भूरामिश्रित)वर्णा, एकमुखी एवं चतुर्भुजी है। इनके दायें के एक हाथ में वज्र है जो वक्षस्थल के निकट है, दूसरा हाथ वरदमुद्रा में है तथा बायें हाथों में से एक में परशु व दूसरे में पाश लिए हुए हैं। वे कमल पर वज्रपर्यङ्कमुद्रा में है। देवी के सिर के चारों ओर श्वेत रंग का प्रभामण्डल है।

5. महाशीतवती

साधनमाला (साधन सं० 206) में यह देवी हरितवर्णा, त्रिमुखी, त्रिनेत्री एवं षड्भुजी है। इनके दायें हाथों में अभय(मुद्रा), वज्र एवं बाण तथा बायें हाथों में तर्जनी-पाश, धनुष एवं रत्नध्वज है। यह देवी सूर्यमण्डल पर आसीन है।

''महासितवती हरितवर्णा सूर्यमण्डलालीढा त्रिमुखा त्रिनेत्रा षड्भुजा तथागत-मुकुटिनी सर्वाभरणालङ्कृता दिव्यवस्त्रोपच्छादनी, तस्याः प्रथमभुजे अभयं द्वितीये वज्रं तृतीये शरं वामप्रथमभुजे तर्जनीपाशं द्वितीये धनुः तृतीये रत्नध्वजम्, मूलमुखं हरितं दक्षिणे शुक्लं वामे रक्तम्, चम्पकवृक्षोपशोभिता...।'' (साधन सं० 206, पृ० 408)

साधनमाला (साधन सं० 200) में यह देवी रक्तवर्णा, एकमुखी एवं चतुर्भुजी है। इनके दायें के एक हाथ वरदमुद्रा में और दूसरे में अक्षसूत्र तथा बायें हाथों में वज्राङ्कुश एवं पुस्तक हृत्प्रदेश में धारण किए हैं। इस देवी के मुकुट पर अमिताभबुद्ध अंकित है। यह नानालङ्कारों तथा सूर्यासन पर सूर्यप्रभा से सुशोभित है।

''महासितवती चतुर्भुजैकमुखी रक्ता दक्षिणभुजद्वये अक्षसूत्रवरदवती वामभुजद्वये वज्राङ्कुशहृत्प्रदेशस्थपुस्तकवती अमिताभमुकुटी अर्द्धपर्यङ्कस्थितानानालङ्कारवती सूर्यासनप्रभा चेति।'' (साधन सं० 200, पृ० 401)

निष्पन्नयोगावली में यह देवी रक्तवर्णा, त्रिमुखी एवं अष्टभुजी है। इनके दायें हाथों में पद्म, अभय(मुद्रा), बाण, वज्र एवं खड्ग तथा बायें हाथों में तर्जनी-पाश, धनुष, रत्नध्वज (पताका) एवं पुस्तक है।

''पश्चिमयां विश्वाब्ज सूर्ये अर्द्धपर्यङ्कनिषण्णा सूर्यप्रभा महाशीतवती रक्ता रक्तसितकृष्णमूलसव्येतरवक्त्राऽष्टभुजा सव्यैः सपद्माऽभयं शरवज्रं खड्गं वामैस्तर्जनीपाशं चापं रत्नध्वजं हृदि पुस्तकं च बिभ्रती।'' (निष्पन्नयोगावली, पृ० 42)

नयपाल के शासनकाल के चौदहवें वर्ष की पञ्चरक्षा में यह देवी स्वर्ण वर्णा, एकमुखी एवं चतुर्भुजी है। यह वज्रपर्यङ्कमुद्रा में कमलासन पर आसीन है। इनके दायें एक हाथ में अक्षसूत्र है, जो वक्षस्थल के निकट है, दूसरा हाथ वरदमुद्रा में है तथा बायें के एक हाथ में पुस्तक है और दूसरे हाथ में त्रिशूलांकुश है। देवी के सिर के चारों ओर श्वेत प्रभामण्डल है।

उपसंहार

इस प्रकार पञ्चरक्षा पाँच देवियों की सूत्र एवं तन्त्र के धारणी-मन्त्र का एक संकलन है जो बौद्धों में प्रारम्भ से ही बहुत अधिक प्रचलित था, जो बौद्धों के ऐहिक सुख एवं शान्ति के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना जाता है। जिनके नाम हैं—1. महाप्रतिसरा—

यह अपुण्य, व्याधि एवं अन्य पापों से रक्षा के लिए, 2. महासहस्त्रप्रमर्दिनी—इसका प्रयोग पापात्माओं के नाश के लिए, 3. महामायूरी—सर्प विष की दूरीकरण के लिए, 4. महाशीतवती—यह पाप, ग्रहों, हिंसक पशुओं तथा विषैले जन्तुओं के नाश के लिए तथा 5. महामन्त्रानुसारिणी—विविध प्रकार के व्याधियों के शान्ति के लिए है। इसमें संगृहीत सूत्र एवं तन्त्र के धारणी-मन्त्र वस्तुतः बौद्धों का पञ्चरक्षा यन्त्र(कवच) है, जिनमें सम्मोहन एवं वशीकरण की अतुल शक्ति विद्यमान है। जो विभिन्न रोगों, पाप-आत्माओं, विषैले जन्तुओं एवं विरुद्ध ग्रहों आदि से सत्त्वों की रक्षा करती है। आज भी देश-विदेश एवं नेपाल के बौद्ध विहारों, संग्रहालयों, पुस्तकालयों एवं व्यक्तिगत संग्रहों में पञ्चरक्षा सूत्र, तन्त्र एवं धारणी-मन्त्र के अनेक संग्रह सुरक्षित हैं।

सन्दर्भ ग्रन्थ :

आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प - पी० एल० वैद्य, मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा, 1964

इण्डियन बुद्धिज्म - हजिमे नाकामुरा, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, रिप्रिन्ट, 1887

इण्डियन बुद्धिस्ट आइकोनोग्राफी - बी० भट्टाचार्य, कोस्मो पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, 1985

निष्पन्नयोगावली - बी० भट्टाचार्य, गायकवाड ओरियण्टल सीरीज, संख्या 109, बड़ौदा, 1972

मूलसर्वास्तिवाद विनयवस्तु - (प्रथम खण्ड), डॉ० एस० बागची, मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा, 1967

साधनमाला - (भाग 1-2), बी० भट्टाचार्य, गायकवाड ओरियण्टल सीरीज, संख्या 26, 41, बड़ौदा, 1968



बौद्ध एवं बौद्धेतर धर्मों में 'दीक्षा' का स्वरूप (7)

—रञ्जनकुमार शर्मा—

[इससे पूर्व धी: के अंकों में बौद्ध, जैन, वैदिकी-दीक्षा के अन्तर्गत उपनयन संस्कार, वैष्णव, शैव, शाक्त तथा सौर दीक्षाओं को क्रम से दे चुके हैं। प्रस्तुत अंक में वैदिकी-दीक्षा के अन्तर्गत गाणपत्य-दीक्षा-विधि का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।]

गाणपत्य-दीक्षा

वैदिक सम्प्रदायों की परिगणना करने पर निश्चित रूप से सौर के बाद गाणपत्य सम्प्रदाय की उपस्थिति प्राप्त होती है। सभी सम्प्रदायों में कोई भी कार्य करने से पूर्व गणेश की ही पूजा करने का विधान मिलता है। शक्तिसंगमतन्त्र में इसके भेद सूचित किये गये हैं[1] और पात्रों का निर्णय, अर्घ्य, ध्यान की विधि आदि, इस सम्प्रदाय की विशिष्टता प्रतिपादित की है।

[2]शाङ्करदिग्विजय में गाणपत्य मत के छह विभाग कहे गये हैं—(1) महागणपति, (2) हरिद्रागणपति, (3) उच्छिष्टगणपति, (4) नवनीतगणपति, (5) स्वर्णगणपति एवं (6) सन्तानगणपति।

गाणपत्य सम्प्रदाय की अनेक शाखाएँ हैं, इनमें से कुछ शाखाएँ मुद्‌गलपुराण में भी उल्लिखित हैं।

ब्रह्मवैवर्तपुराण के गणेशखण्ड में इनके जन्म तथा गजवदन होने का वर्णन है।

[3]गणेश के उपासक गाणपत्य कहलाते हैं। शाङ्करदिग्विजय से ज्ञात होता है कि पहले गाणपत्य सम्प्रदाय प्रचलित था, किन्तु अब उसका प्राय: लोप हो गया है।

गणपति उपासक गणेशगायत्री आदि के मन्त्रों का जप करते हैं।

शिष्य के कर्तव्य—

जो मनुष्य गणेश-भक्ति करता है और गणेशानुराग से गाणपत्य-दीक्षा ग्रहण करना चाहता है तो उसे वेदों में पारंगत गुरु को प्रणाम करके, दीक्षा देने की प्रार्थना करनी चाहिए।

---

1. श्रीशक्तिसङ्गमतन्त्रम् - (चतुर्थो भाग:) छिन्नमस्ताखण्ड, ओरियण्टल इन्स्टीच्यूट, बड़ौदा, सन् 1978, पृ० 41
2. हिन्दू धर्म कोश - डॉ० राजबली पाण्डेय, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, पृ० 230
3. गणेश - डॉ० सम्पूर्णानन्द, महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी, पृ० 12

नरो गणेशभक्तिं यः कर्तुं समुद्यतो भवेत् ।
गणेशप्रीतिकामार्थं दीक्षा ग्राह्या च तेन वै ॥
गाणपत्यं सुशान्तिस्थं गुरुं वेदार्थपारगम् ।
नत्वा तं च वदेत्पूर्वं दीक्षां देहि महाप्रभो ॥

(मुद्गलपुराण, 5.23.2-3)

शिष्य को वेदशास्त्रादि से वर्जित आचरण नहीं करना चाहिए।

वेदशास्त्रादिमार्गेषु हीनं नैव समाचरेत् ॥

(मुद्गलपुराण, 5.23.9)

दीक्षा-गुरु

गुरु को शिष्य के अन्दर सुशील, श्रौतस्मार्त से युक्त गणेश के प्रति भावना देखकर, उसे प्रथम गाणपत्य-धर्म का उपदेश देना चाहिए। अर्थात् गाणपत्य-दीक्षा लेने के पश्चात् उसे किस प्रकार का आचरण करना होगा, यह विस्तार से बताना चाहिए।

एवं पृष्टो गुरुस्तत्र शिष्यं दृष्ट्वा सुशीलगम् ।
श्रौतस्मार्तक्रियायुक्तं गणेशे भावलालसम् ॥
ततस्तं शिक्षयेदादौ धर्मान् गाणेशकान् प्रभो ।

(मुद्गलपुराण, 5.23.5-6)

फिर पूर्वकृत पापों के प्रायश्चित्त तथा शरीर शुद्धि के लिये कृच्छ्र, चान्द्रायणादि का अनुष्ठान करा कर, तब दीक्षा का विधान करें।

दीक्षा-काल

गाणपत्य-दीक्षा के लिए यों तो कोई भी शुभ दिन उपयुक्त है। विशेष करके शुक्ल या कृष्णपक्ष की चतुर्थी शुभ मानी गयी है।

अथवा गणराजस्य सर्वदा चोतिथिर्भवेत् (चोत्तमा तिथिः)।
चतुर्थी शुक्लपक्षस्थां कृष्णां वा समवलोकयेत् ॥

(मुद्गलपुराण, 5.23.12, गणेशकोश से उद्धृत, पृ० 473)

दीक्षा-विधि

किसी पवित्र स्थान पर भूमि को गोमय से लीपकर, वहाँ चतुष्कोण मण्डप बनाया जाता है। इसके चारों कोनों में घट स्थापना की जाती है और मण्डप के मध्य में कुंकुम से

गणेश का यन्त्र बनाकर गणेश की स्थापना की जाती है। इसके पश्चात् शिष्य द्वारा गणेश की विधिवत् पूजा की जाती है और जो गाणपत्य-दीक्षा से दीक्षित रहते हैं, उनका भूषण-वस्त्रादि से सत्कार करके, उनके द्वारा गणेश-मन्त्र का एक लाख, दस हजार या एक हजार जप करवाया जाता है। इसके अनन्तर जप का दशांश हवन, तर्पण तथा मार्जन करके पूर्णाहुति की जाती है।

दीक्षायुक्तांश्च गाणेशान्पूजयेत्स ततः परम् ।
तेभ्यो भूषणवस्त्रादीन् दापयेच्छाद्यवर्जितः ॥
गाणेशेनैव मन्त्रेण जपं सत्कारयेत्तु तैः ।
पुरश्चरणसंख्याकमथवा लक्षमेव च ॥
अथवा दशसाहस्रमथवा च सहस्रकम् ।
तद्दशांशेन होमं वै कुर्यात्तत्र महामतिः ॥
ततो बलिप्रदानं वै कुर्यात् पूर्णाहुतिं ततः ।

(मुद्गलपुराण, 5.23.17-20)

इसके पश्चात् पुनः शिष्य, गुरु को प्रणाम करके दीक्षा देने की प्रार्थना करता है—

प्रार्थयेत्सर्वभावेन शिष्यं मां तारय प्रभो ।
मन्त्रं देहि महाभाग गाणपत्यं विशेषतः ॥

(मुद्गलपुराण, 5.23.21)

गुरु, सामने एक कलश की स्थापना करके, वरुणमन्त्र से उसे अभिमन्त्रित करते हैं और इसके पश्चात् उसमें विघ्नेश्वर का ध्यान, आवाहन आदि संक्षेप में करते हैं तथा गणेशादि का पूजन कराने के बाद गणेश का ध्यान करते हुए अपने तथा शिष्य के मस्तक को वस्त्र से ढककर शिष्य के कान में मन्त्र की दीक्षा देते हैं।

स्थापयेत्तं ततः पूज्यं वारुणेनैव मन्त्रतः ॥
तत्र विघ्नेश्वरं ध्यात्वा पूजयेत् स्वल्पमार्गतः ।
ततो वस्त्रं समाच्छाद्य मस्तके गुरुसंयुतः ॥
गणेशं मनसा ध्यात्वा मन्त्रं शिष्याय दापयेत् ॥

(मुद्गलपुराण, 5.23.23-24, 26)

दीक्षा के मन्त्र भिन्न-भिन्न ग्रन्थों में, जैसे—गणेशपुराण, भविष्यपुराण आदि में अलग-अलग पाये जाते हैं, कहीं गणेशगायत्री, कहीं ब्रह्मसाधितमन्त्र नाम से कई मन्त्र हैं; परन्तु गुरु का जो अपने सम्प्रदाय का मन्त्र है या जो शिष्य की शिक्षा के अनुकूल हो, वही गुरु अपने शिष्य को प्रदान करता है।

गुरु, शिष्य को दीक्षा देने के पश्चात् 108 बार गणेश मन्त्र से अभिमन्त्रित जल (कलश का जल) से उसे स्नान कराकर, उससे गणेश की पूजा कराते हैं।

शिष्य पूजनादि के पश्चात् गाणपत्य-दीक्षा से दीक्षित विद्वानों की पूजा करता है और भोजन कराके दक्षिणा देता है। अन्त में पूजन का विसर्जन करता है।

दीक्षोपरान्त गुरु, दीक्षित शिष्य को गाणपत्य-धर्म का उपदेश देते हैं—"गुरु के वंश को सदा नमस्कार करना तथा अन्य आचार्यों का भी सम्मान करना चाहिए। प्रतिदिन नियमपूर्वक गणेश की पूजा और उसके समीप बैठकर ही मन्त्र का पुरश्चरण करना चाहिए। दातून आदि से मुख साफ किये विना तथा मैथुन करने के पश्चात् स्नान किये विना कभी मूर्ति के समीप नहीं जाना चाहिए। मैला वस्त्र, दूसरे के द्वारा धारण किया हुआ वस्त्र और फटा हुआ वस्त्र पहनकर कभी भी देवता की पूजा नहीं करना चाहिए। गणेश की पूजा करते समय किसी दूसरे व्यक्ति से वार्तालाप नहीं करनी चाहिए। किसी प्रकार का उबटन आदि लगाकर देवता के सम्मुख नहीं जाना चाहिए। किसी प्रकार का पेट में अजीर्ण आदि हो, तो भी देवालय में नहीं जाना चाहिए। क्योंकि गन्दे उद्गार (डकार) या अपानवायु निकलने से देवालय दूषित हो जाता है। जब भी देवालय में जाय, तो शंख, घण्टा या भेरी आदि वाद्य-यन्त्रों का शब्द करके जाना चाहिए।"

अतः मात्र इस विषय के अध्ययन से इसमें सम्यक्तया प्रवृत्ति नहीं हो सकती; इसके लिए हमें एक सुयोग्य गुरु के समक्ष अपने को समर्पित कर सही भावों को भावित करने का यत्न करना चाहिए।



तन्त्र की सामान्य एवं संक्षिप्त व्यवस्था (12)

—छेरिंग डोलकर—

[आचार्य बुस्तोन रचित ''सामान्य एवं संक्षिप्त तन्त्रोपन्यास रत्ननिधि द्वारोद्घाटक कुञ्जी'' नामक ग्रन्थ के क्रमशः हिन्दी अनुवाद के क्रम में प्रस्तुत अंक में 'अनुत्तरयोगतन्त्र के अर्थों का प्रतिपादन' इस शीर्षक के अन्तर्गत इसके चार उपभेदों में से 'नेयार्थतः प्रज्ञा, उपाय तथा अद्वयतन्त्र रूपी तीन भेद' तथा 'नीतार्थतः अद्वयतन्त्र के रूप में प्रतिपादन' नामक उप शीर्षकों का हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया जा रहा है।]

(ग) नेयार्थतः प्रज्ञा, उपाय तथा अद्वयतन्त्र में विभाजन

नेयार्थतः इस तन्त्र (अनुत्तरतन्त्र) में प्रज्ञा, उपाय तथा अद्वयतन्त्र रूपी तीन भेद हैं—इसमें भी (1) अभिधान शब्द की विशेषता, (2) अभिधेय-अर्थ की विशेषता और (3) विनेयजन पुद्गल की विशेषता—ये तीन (विषय-भेद) हैं।

(1) अभिधान शब्द की विशेषता—गुह्यतत्त्वप्रकाश (तो० 1450) में कहा गया है—

> ''ऐसा मैंने और उसके बाद सुना और भी, एक समय में, उसके बाद अन्य भी, सभी तथागत काय-वाक्-चित्तहृदयवज्र योषितों के भगों में भगवान् रहते थे, ऐसा योगतन्त्र में प्रसिद्ध है।[1]
>
> परम रम्य रहस्य में, सभी (स्थिर-चल) भावों के आत्मस्वरूप में सदा स्थित; सभी डाकिनियों से युक्त ऐसा जो सत्त्व है, वही वज्रसत्त्व परम सुख है।[2] इस प्रकार अन्य (शास्त्रों) में भी आदि और अन्त में स्थित (इन) शब्दों से, योगिनीतन्त्र को दर्शाया है। अन्यत्, अग्नि से दग्ध-तृण की तरह हैं।''

अतः 'एवं मया श्रुतम्' इत्यादि शब्द से शुरू किया गया (तन्त्र) पितृतन्त्र है। 'रहस्ये परमे रम्ये सर्वात्मनि सदा स्थितः' इत्यादि शब्द से शुरू किया गया (तन्त्र) योगिनीतन्त्र है और 'सर्वज्ञं ज्ञानकायम्'[3] इत्यादि से शुरू किया गया (तन्त्र) अद्वयतन्त्र के रूप में सिद्ध होता है।

---

1. एवं मया श्रुतमेकस्मिन् समये भगवान् सर्वतथागतकायवाक्चित्तहृदयवज्रयोषिद्भगेषु विजहार। (गु० स० त०, प्रथम पटल, पृ० 1)।
2. द्र०- रहस्ये परमे रम्ये सर्वात्मनि सदा स्थितः ।
   सर्वडाकिनीमयः सत्त्वो वज्रसत्त्वः परं सुखम् ॥ (च० त०, 1.3)
3. का० च० त०, 1.1

(2) अभिधेय-अर्थ की विशेषता—इसमें (क) तत्त्व की विशेषता, (ख) उत्पत्तिक्रम की विशेषता, (ग) निष्पन्नक्रम की विशेषता और (घ) विशुद्धि की विशेषता, ये चार भेद हैं।

(क) तत्त्व की विशेषता—उपाय (तत्त्व) की उदारता को प्रतिपादित करने वाला पितृतन्त्र है। प्रज्ञा की गम्भीरता को प्रतिपादित करने वाला मातृतन्त्र है। यथा **अनुत्तरयोगतन्त्रार्थावतार** (तो० 3713) में कहा गया है—"उदार तत्त्व को जिस तन्त्र में प्रमुखता से दर्शाया गया हो, वह उपायतन्त्र है। जिस (तन्त्र) में गम्भीर तत्त्व को प्रमुखता से दर्शाया गया हो, (वह) प्रज्ञातन्त्र है।" जिस (तन्त्र) में गम्भीर (तत्त्व) एवं उदार (तत्त्व) दोनों समान रूप से प्रतिपादित हों, वह अद्वयतन्त्र के रूप में सिद्ध होता है। पुनः, उत्पत्तिक्रम के तत्त्व को प्रतिपादित करने वाला पितृतन्त्र और निष्पन्नक्रम के तत्त्व को प्रतिपादित करने वाला मातृतन्त्र है। यथा—**गुह्यतत्त्वप्रकाश** (तो० 1450) में कहा गया है—

> "उत्पत्ति और निष्पन्नक्रम से, (अर्थात्)
> उत्पत्ति(क्रम) से योग(तन्त्र) को और
> निष्पन्न(क्रम) से योगिनी(तन्त्र) को दर्शाया है।"

(ख) उत्पत्तिक्रम की विशेषता—भूतों के कूट-क्रम के लय से वज्रभूमि अथवा कूटागारं (विमान) की उत्पत्ति उपायतन्त्र है। भूतों के कूट-क्रम के ऊपर कूटागार (विमान) की उत्पत्ति प्रज्ञातन्त्र है। यथा **विमलप्रभा**[1] में कहा गया है—

> "उपायतन्त्र में इन्हीं से (भूतों से) कूटागार आदि बनते हैं और यहाँ सुमेरु के ऊपर मण्डल नहीं होता है।"

ज्ञानपटल (विमलप्रभा)[2] में कहा गया है—

> "उसके बाद आकाशधातु स्वभाव धर्मोदय की भावना करे। उसके (धर्मोदय के) मध्य में हूँकार परिणत वज्रभूमि की (भावना करे), उसके बाद प्रज्ञातन्त्र के

---

1. उपायतन्त्रे एभिरेव कूटागारादिकं करोति। अत्र मेरुमूर्ध्नि मण्डलं न भवति। (वि० प्र०, भाग-II, पृ० 33)।
2. ततो धर्मोदयमाकाशधातुस्वभावं भावयेत्, तन्मध्ये हूँकारपरिणतां वज्रभूमिम्। अथ प्रज्ञातन्त्राभिप्रायेण वाय्वादिमण्डलानि सुमेरुपृष्ठे कूटागारं वज्रपञ्जरं वा। (वि० प्र०, भाग-III, पृ० 63-64)।

अभिप्राय से वायु आदि मण्डलों की अथवा सुमेरु के ऊपर कूटागार वज्रपञ्जर की (भावना करे)।''

इस प्रकार भूतों के कूटक्रम को उत्पन्न कर इसके लय से उद्भूत भूतों के कूट-क्रम की उत्पत्ति (और) इनके ऊपर कूटागार की भावना करना अद्वयतन्त्र है। पुनः ज्ञानाकर्षण प्रवेश आदि समस्त कर्मों में योगिनियों का संचार तथा उपाय का निश्चल रहना प्रज्ञातन्त्र है। उपाय का संचार तथा प्रज्ञा का निश्चल रहना उपायतन्त्र है। यथा **ज्ञानपटल**[1] में कहा है—

''जहाँ संवृति में योगिनियाँ संचरण करती हैं और नायक निश्चल रहता है, वह योगिनीतन्त्र है और जहाँ उपाय का संचार होता है और प्रज्ञा निश्चल रहती है, वह उपायतन्त्र है।''

पुनः, तुल्य दिवा-निशा काल की विशुद्धि से मातृ-पितृ देव का अर्थात् युगनद्ध अवस्था में समान मुख-भुज होना उपायतन्त्र है। पूर्वापर सन्धि की विशुद्धि से मातृ-पितृ देव का विषम मुख-भुज होना प्रज्ञातन्त्र है। **ज्ञानपटल**[2] में कहा है—

''इस प्रकार पूर्वापर सन्धि से एकमुख और चतुर्मुख अथवा एकमुख और आठ मुखादि विषम-समापत्ति में आलिङ्गन योगिनीतन्त्र है तथा समान मुख-भुजाओं से सम-समापत्ति में आलिङ्गन योगतन्त्र है, (जो) तुल्य दिवा-निशा काल में होता है। यह काल की विशेषता का नियम है।''

इस प्रकार प्रधान मातृ-पितृ (देव) विषम मुख-भुज वाला और परिषद् सम मुख-भुज वाली हो तो अद्वयतन्त्र अर्थतः सिद्ध होता है। पुनः, (यदि) प्रधान देव और परिषद् देवगण (मण्डल में) प्रायः बैठे हुए हों, वह उपायतन्त्र है और खड़े हुए हों, तो वह प्रज्ञातन्त्र है। (यदि) परिषद् (देवगण) बैठे हुए हों और प्रधान (देव) खड़े हुए हों, तो वह अद्वयतन्त्र है। (यथा) **विमलप्रभा**[3] में कहा है—

---

1. यत्र योगिनीनां सञ्चारो नायको निश्चलः संवृत्या तद्योगिनीतन्त्रम्, यत्रोपायस्य सञ्चारः प्रज्ञा निश्चला तदुपायतन्त्रम्। (वि० प्र०, भाग-III, पृ० 6)
2. एवं पूर्वापरसन्ध्या योगिनीतन्त्रालिङ्गनविषमसमापत्तित एकमुखचतुर्मुखयोरेकमुखाद्यष्टमुखाद्योर्वेति, योगतन्त्रे सममुखभुजयोरालिङ्गनं तुल्यदिवानिशाकाले इति नियमः कालविशेषेण। (वि० प्र०, भाग-III, पृ० 31)।
3. उपविष्टोऽपि तदा भगवान् भवति श्रीसमाजवत्। अत्र दोषो नास्ति निरन्वयत्वात्। (वि० प्र०, भाग-II, पृ० 166)।

''उस समय भगवान् का विहरण भी श्रीगुह्यसमाज के सदृश है। अन्वय (सम्बद्ध) नहीं होने से इसमें दोष नहीं है।''

ऐसा प्रतिवाद के बल से बताया है। पुनः, तथागत को डाकिनी काय में दिखलाकर स्त्री (मातृदेव) को प्रधान बनाना अथवा परिषद् (माण्डलेय देव गणों) में अधिकतर स्त्रीगणों से परिवृत होना योगिनीतन्त्र है। तथागत को पाँच कुलों के काय में दिखलाकर परिषद् (माण्डलेय देवगणों) में अधिकतर पुरुषगणों से परिवृत होना पितृ(योग)तन्त्र है। यथा **पञ्जर (वज्रपञ्जर)** (तो० 419) में कहा गया है—

''सभी बुद्धों की ये डाकिनियाँ उत्तम गण (हैं),
पाँचों डाकों की प्रसिद्धि के लिए, डाकिनी (मातृ)तन्त्र की देशना दी है।''

अन्यत्र भी ऐसा कहा गया है—

''**आसन**—रत्न आसन और आयुध के ऊपर तथा सिंह आदि के आसन पर आसीन, **आभूषण**—रत्न-अलंकार तथा **आयुध**—अधिकतर चक्र तथा रत्न आदि। प्रत्यालीढ (मुद्रा में) खड़े हुए क्रोधदेवता तथा वाम सलील (मुद्रा में) बैठे हुए सौम्य देवता और कौशेय वस्त्र (पट्ट) आदि धारण किये हुए (देव) उपायतन्त्र है। **आसन**—शव और कपाल आदि, **आभूषण**—अस्थि-आभूषण (अस्थिमाला), मुण्डमाला और नरहस्त आदि, **आयुध**—खड्ग, कपाल, खट्वाङ्ग और डमरु आदि तथा देवता आलीढ (मुद्रा में), नर-चर्म और गज-चर्म धारण किए हुए या निर्वस्त्र (दिगम्बर) मातृतन्त्र के (देव) हैं।''

मण्डल में श्मशान का होना मातृतन्त्र तथा श्मशान रहित (मण्डल) पितृतन्त्र है, ऐसा गुरुजनों ने कहा है। **अनुत्तरयोगतन्त्रार्थावतार** (तो० 3713) में भी कहा गया है—

''जिस (तन्त्र) में लोकानुरूप देव के आकार को दर्शाया हो, (वह) उपायतन्त्र और जिस (तन्त्र) में लोक के विपरीत देवता का आकार दर्शाया हो, (उसे) प्रज्ञातन्त्र इत्यादि (के रूप में) कहा है।''

(ग) निष्पन्नक्रम की विशेषता—निष्पन्नक्रम में प्रज्ञापारमिता का उपाय महामुद्रा के योग द्वारा तत्त्व में प्रवेश करने का प्रतिपादन मातृतन्त्र और स्वाधिष्ठान तथा

अभिसम्बोधिक्रम का मुख्य रूप से प्रतिपादन पितृतन्त्र (कहलाता) है। यथा **वज्रपञ्जर** (तो० 419) में कहा गया है—

"प्रज्ञापारमिता का उपाय, जिसे योगिनी कहा गया है,
महामुद्रा प्रयोग द्वारा जिस तत्त्व (तथता) में
प्रवेश करता है (उसे) योगिनीतन्त्र माना गया है।"

डाकार्णव(तन्त्र) (तो० 372) में कहा गया है—

"योगियों को तन्त्रराज से उन-उन तन्त्रों की विधि एवं भेद को जानना चाहिए।
प्रभास्वर माया द्वारा माया जगत् को कहा गया है।"

पुनः नाड़ी और वायु के तत्त्व का (क्रमशः) प्रधानतया प्रतिपादन मातृतन्त्र और पितृतन्त्र है। यथा **मुखागम टीका** (तो० 1853) में कहा गया है—

"अनुत्तरयोगतन्त्रों का उपदेश है कि डाकिनीतन्त्रों में जो नाड़ी प्रमुख तन्त्र हैं, वह (मातृतन्त्र) इसके द्वारा अवबोध होता है और योग (अनुत्तरयोगतन्त्र में) जो उपाय प्रमुख तन्त्र है, वायु-तत्त्व की प्रधानता के द्वारा इसका अवबोध होता है।"

(घ) विशुद्धि की विशेषता—पाँच स्कन्धों की विशुद्धि द्वारा पाँच बुद्धों के रूप में दर्शाने वाला पितृतन्त्र तथा पाँच धातुओं की विशुद्धि द्वारा पाँच देवियों के रूप में दर्शाने वाला मातृतन्त्र (कहलाता) है। **विमलप्रभा**[1] में कहा है—

"लोक संवृति में आदर्शज्ञान आदि के भेद से, स्कन्ध और धातुओं के शोधन से और मृदु इन्द्रिय सत्त्वों के आशय के वश से प्रज्ञा और उपाय पक्ष को तथागत ने कहा है।"

गुह्यसमाज[2] में कहा है—

"संक्षेप में, सभी पाँच स्कन्ध (पाँच) जिन तथागत हैं।
वज्रायतन भी बोधिसत्त्व का अग्रमण्डल है।"

---

1. लोकसंवृत्यादर्शज्ञानादिभेदेन धातुस्कन्धविशुद्धितः, प्रज्ञोपायपक्ष उक्तो मृदुसत्त्वाशयवशात् तथागतेनेति। (वि० प्र०, भाग-I, पृ० 18)।
2. पञ्चस्कन्धाः समासेन पञ्चबुद्धाः प्रकीर्तिताः ।
वज्र-आयतनान्येव बोधिसत्त्वाग्र्यमण्डलमिति ॥ (गु० स० त०, 17.50)

हेवज्र[1] में भी कहा गया है—

''पृथिवी को पुक्कसी कहा है'', इसी प्रकार ''मोह को वज्रा कहा गया है।''

रिगि-अरल्लितन्त्र (तो० 427) में कहा गया है—

''पीठ-चित्त तथा उपपीठ-पृथिवी, जल, अग्नि और वायु (हैं)।
पुनः, यहाँ चार प्रकार की देवियाँ, वर्ण भेद से पूर्ववत् हैं।''

पुनः, वायु-विशुद्धि से पाँच तथागत बुद्धों के रूप में दर्शाना, पितृतन्त्र है। नाड़ी-विशुद्धि से डाकिनी को दर्शाना, मातृतन्त्र है। जैसे **वज्रमालातन्त्र**[2] (तो० 445) में कहा है—''यह वायु-तत्त्व पाँच ज्ञानों के स्वरूप में व्यक्त होता है।'' **हेवज्र**[3] में कहा गया है—

''दो-दो नाड़ियाँ एक-एक योगिनी के रूपों में कही गई हैं।''

पुनः, **अनुत्तरतन्त्रार्थावतार** (तो० 3713) में कहा गया है—

''जिसमें आभ्यन्तर और बाह्य स्कन्ध, धातु एवं आयतनों की विशुद्धि के देवता को दर्शाना उपायतन्त्र है। जिसमें, आभ्यन्तर और बाह्य नाड़ी तथा बोधिचित्त की विशुद्धि के देवता को दर्शाना प्रज्ञातन्त्र है।''

(3) विनेयजन पुद्गल की विशेषता—देशक की विशेषता, अध्येषक की विशेषता, संग्रहकर्ता की विशेषता और विनेयजन पुद्गल की विशेषता, (इसमें) ये चार विषय हैं।

(I) देशक की विशेषता—योषित् गणों (योगिनी) सहित परिषद् के मध्य में वज्रसत्त्व द्वारा देशना करना पितृतन्त्र तथा हेरुक, डाक या देवी द्वारा देशना करना मातृतन्त्र है। यथा **सन्धिव्याकरण** (तो० 444) में कहा गया है—

''तत्पश्चात् काय-वाक्-चित्तवज्री श्रीमान् वैरोचन परिषद् मण्डल को देखकर, त्रितत्त्वों से उद्भूत काय के रूप में निर्मित हुए।''

---

1. 'पृथिवी पुक्कसी ख्याता' (1.9.16)
'मोहो वज्रा तथाख्याता' (1.9.18)
2. 'वायुतत्त्वमिदं व्यक्तं पञ्चज्ञानस्वभावकम्।' (वज्रजाप० 24), यह उद्धरण वज्रमाला का न होकर वज्रजाप (पञ्चक्रम) का है।
3. द्र०- नाडिद्वयद्वयैकैका योगिन्यः क्रमशो मतः। (2.4.24)

वज्रडाक[1] (तो० 371) में कहा गया है—

"परम रम्य रहस्य में, सभी (स्थिर-चल) भावों के आत्मस्वरूप में सदा स्थित; सभी डाकिनियों से युक्त ऐसा जो सत्त्व है वही वज्रसत्त्व, परम सुख है।"

रिगि-अरल्लितन्त्र (तो० 427) में भी कहा है—

"रिगि योगेश्वरी प्रभु से अरल्लि ने अध्येषणा की।" इस प्रकार मातृदेव (रिगि) को देशक के रूप में कहा गया है।

(II) अध्येषक की विशेषता—देशक वज्रधर को बुद्ध-बोधिसत्त्व या पितृदेव परिषद् के द्वारा अध्येषणा करना पितृतन्त्र है। देशक पितृदेव होने पर भी मातृदेव द्वारा अध्येषणा करना अथवा मातृदेवियों के लिए अध्येषणा करना मातृतन्त्र है। यथा **सन्धिव्याकरण** (तो० 444) में कहा गया है—

"तत्पश्चात् क्षितिगर्भ आदि उन बोधिसत्त्व महासत्त्वों ने, नाथ महावैरोचन से अध्येषणा की।"

डाकार्णव[2] (तो० 372) में कहा गया है—"योगिनी चक्र (मण्डल) के मध्य, मैं वाराही पूछती हूँ।"

(III) संग्रहकर्ता की विशेषता—सामान्यतया गुह्यतन्त्र का संग्रहकर्ता मुख्य रूप से वज्रपाणि होने पर भी, यद्यपि विशिष्ट अध्येषणा-कर्ता जो है, उसके द्वारा भी संग्रह किया हुआ मिलता है, तथापि वज्रधर्म द्वारा संगृहीत गुह्यसमाज की भाँति पितृदेव द्वारा संगृहीत पितृतन्त्र और मातृदेव द्वारा संगृहीत मातृतन्त्र है। यथा **वज्रामृततन्त्रटीका** (तो० 1650) में कहा गया है जैसे—

"भगवती द्वारा संग्रह कर, मामकी द्वारा स्थान आदि की सम्पन्नता का वर्णन आरम्भ करते हुए देशना की।"

(IV) विनेयजन-पुद्गल की विशेषता—पुरुष विनेयजनों को विनीत करने के लिए पितृतन्त्र और स्त्री विनेयजनों को विनीत करने के लिए मातृतन्त्र है। **(वज्र)पञ्जर** (तो० 419) में कहा गया है—

---

1. रहस्ये परमे रम्ये सर्वात्मनि सदा स्थितः ।
सर्वडाकिनीमयः सत्त्वो वज्रसत्त्वः परं सुखम् ॥ (च० त०, 1.2-3)
2. योगिनीचक्रमध्ये तु पृच्छाम्यहं वाराहिका। (डा० त०, परिच्छेद-1, श्लोक-4)

"पुरुषों को विनीत करने के लिए योगतन्त्रों को कहा गया है तथा स्त्रियों के संग्रह के लिए योगिनीतन्त्रों की देशना की है।"

पुनः, अविपरीत दृष्टि और कर्म से युक्त सुखपूर्वक बोधि को सिद्ध करने के इच्छुक स्वनिकाय के आश्रयी पुद्गल के लिए पितृतन्त्र तथा प्राणातिपात में रुचि रखने वाले तथा विपरीत दृष्टि एवं कर्म में (पतित) तैर्थिक पुद्गलों को विनीत करने के लिए मातृतन्त्र है। **(वज्र)पञ्जर** (तो० 419) में कहा है—

"प्राणातिपात में प्रयासरत, विपरीत दृष्टि और कर्म वाले तथा स्त्रियों (स्त्री विनेयजनों) के संग्रह के लिए सुख का उपाय जो विस्तृत नहीं है, विस्तृत (गम्भीर) अर्थ युक्त लघु ग्रन्थ (तथा) हीनबुद्धि वालों द्वारा अच्छी तरह अधिगम होने वाले मन्त्रों की विशेषता होने से सभी तन्त्रों का हृदय डाकिनीतन्त्र की देशना की है।"

अनुत्तरयोगतन्त्रार्थावतार (तो० 3713) में कहा गया है—

"जिस (तन्त्र) में पुरुषों तथा स्वनिकाय वालों को विनीत करने के लिए अधिकांशतः पितृदेव को दर्शाने वाला मण्डल, उपायतन्त्र है। (तथा) जिस (तन्त्र) में स्त्री एवं तैर्थिकों को विनीत करने के लिए और उनके अनुरूप अधिकांशतः मातृदेव के रूप दर्शाने वाला मण्डल, प्रज्ञातन्त्र है।"

इस प्रकार, एक-एक विशिष्टता के आधार पर पितृतन्त्र तथा मातृतन्त्र के भेद का निर्णय नहीं किया जा सकता, क्योंकि अधिकता (विशिष्टता) एक पक्ष को ही लक्षित कर बतलाये गए हैं। इन दोनों विशेषताओं का समानरूप से पूर्ण होना तथा दोनों (विशेषताओं) से पृथक् (जो) मुख्य अभिधेय को प्रतिपादित करता हो, (वह) प्रज्ञोपायाद्वयतन्त्र (है), ऐसा जानना चाहिए।

(घ) नीतार्थतः सभी (तन्त्रों) का अद्वयतन्त्र के रूप में प्रतिपादन—इस प्रकार हीनाधिमुक्ति वालों के उद्धार करने के लिए प्रज्ञा और उपायतन्त्र को अलग-अलग करके देशना की गयी है, जबकि नीतार्थ में समस्त प्रज्ञा एवं उपायतन्त्र अद्वयतन्त्र हैं, क्योंकि योग का अर्थ प्रज्ञा एवं उपाय की समापत्ति है। यह पितृतन्त्र तथा मातृतन्त्र दोनों का अभिधेय है। जैसे कि **(गुह्य)समाजोत्तर(तन्त्र)**[1] में कहा है—

---

1. प्रज्ञोपायसमापत्तिर्योग इत्यभिधीयते ।
यो निस्वभावतः प्रज्ञा उपायो भावलक्षणम् ॥ (18.32)

"प्रज्ञोपाय की समापत्ति को योग ऐसा कहा है।
जो नि:स्वभाव है (वह) प्रज्ञा और भाव लक्षण उपाय है।"

हेवज्र[1] में कहा है—

"हेकार को महाकरुणा और वज्र को प्रज्ञा कहा जाता है।
उस प्रज्ञोपायात्मक तन्त्र को मैं बतलाता हूँ, सुनो।"

विमलप्रभा[2] में कहा गया है—

"स्वरूपत: प्रज्ञोपायात्मक समस्त (तन्त्र) योगतन्त्र ही है।" तथा

"अत: जिस तन्त्र में प्रज्ञोपायात्मक अभिधेय हो, वह तन्त्र परमार्थत: न प्रज्ञातन्त्र है और न ही उपायतन्त्र है।"

संक्षेप एवं सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

का० च० त० कालचक्रतन्त्र - विमलप्रभा, प्रथम भाग, सम्पा० जगन्नाथ उपाध्याय, केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ, वाराणसी, 1986, भाग 2 और 3, 1994

गु० स० त० गुह्यसमाजतन्त्र- एस० एस० बागची, मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा, 1965

च० त० चक्रसंवरतन्त्र - 2 भाग, केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ, वाराणसी, 2002

डा० त० डाकार्णवतन्त्र - हस्तलेख, दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थ शोध अनुभाग, सारनाथ।

पञ्चक्रम सम्पा० रामशङ्कर त्रिपाठी, केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ, वाराणसी, 2001

हेवज्र० हेवज्रतन्त्र, डी० स्नेलग्रोव, 2 भाग, लन्दन ओरियण्टल सीरीज़-6, ऑक्सफर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, लन्दन, पुनर्मुद्रण, 1980



1. हेकारेण महाकरुणा वज्रं प्रज्ञेति भण्यते ।
प्रज्ञोपायात्मकं तन्त्रं तन्मे निगदितं शृणु ॥ (1.1.7)
2. "स्वरूपत: सर्वमेव प्रज्ञोपायात्मकं योगतन्त्रम्।" (भाग-I, पृ० 6)
अतो यस्मिन् तन्त्रे प्रज्ञोपायात्मकोऽभिधेयो भवति, तत् तन्त्रं न प्रज्ञातन्त्र नोपायतन्त्रं परमार्थत: । (भाग-I, पृ० 18)

गिरीन्द्रमूर्ध्नः प्रपतेत् तु कश्चिद्
नेच्छेच्च्युतिं स च्यवते तथापि ।
गुरुप्रसादाद्विहितोपदेशाद्
नेच्छेद्विमुक्तिं स तथापि मुक्तः ॥

आचार्यदीपङ्करभद्ररचितः

श्रीगुह्यसमाजमण्डलविधिः

ŚRĪGUHYASAMĀJAMAṆḌALAVIDHI

of

ĀCĀRYA DĪPAṄKARABHADRA

कायवाक्चित्तनिध्यप्तैः स्वभावो नोपलभ्यते ।
मन्त्रमूर्तिप्रयोगेण न बोधिर्न च भावना ॥

विचार्येदं समासेन कायवाक्चित्तलक्षणम् ।
भावयेद् विधिसंयोगं समाधिं मन्त्रकल्पितम् ॥

(गु० स० त० 6.5–6)

दीपङ्करभद्रस्य

श्रीगुह्यसमाजमण्डलविधिः[1]

नमो वज्रसत्त्वाय[2] ।।

ज्ञेयाद्यावृतिनिर्मुक्तं ज्ञानादर्शादिसंयुतम् ।
मञ्जुश्रीगुह्यसच्चक्रं नत्वा तद्वच्मि मत्स्मृतौ ॥ 1 ॥

श्रीमत्समाजसन्नीत्या चक्राम्नातक्रमादतः ।
उदकाद्यमनुज्ञान्तं योऽभिषिक्तो गुरोस्ततः ॥ 2 ॥

तत्त्वाप्तौ गुह्यचक्रेऽस्मिन् गुह्यप्रज्ञाभिषेकतः ।
गुह्यज्ञो योगतत्त्वज्ञस्त्रियानसन्धितत्त्ववित् ॥ 3 ॥

विद्याहृन्मन्त्रमुद्राणां समाधित्रितयस्य च ।
सामान्येतरसिद्धीनां तन्त्रनीत्या विभागवित् ॥ 4 ॥

समयसंवरस्थो वा प्रज्ञायोगसुतत्परः ।
मन्त्रतन्त्रप्रयोगज्ञो भव्यः सत्त्वार्थसाधने ॥ 5 ॥

त्यागधैर्यादियुक्तोऽपि प्रोक्तै[3]र्गुणैरनन्वितः ।
सत्त्वार्थे नैव भव्यो यत्स[4]द्भिस्तैः स्युर्गुणा ह्यमी ॥ 6 ॥

कृपावान् सुव्रतो जापी श्राद्धो गम्भीरतत्त्ववित् ।
पूर्वसेवां स्वचक्रस्थः कृत्वा मण्डलमालिखेत् ॥ 7 ॥

क्वचिन्मनोनुगे स्थाने दिग्धे सच्चन्दनादिभिः ।
सुगन्धिकुसुमाकीर्णे प्राक् प्रातरुपविश्य च ॥ 8 ॥

विमोक्षमुखसंशुद्धौ हृदीन्दौ[5] मं प्रभोज्वलम् ।
ध्यात्वा शुभाभिवृद्ध्यर्थं प्रकुर्याद्देशनादिकम् ॥ 9 ॥

---

1. श्रीगुह्यसमाजमण्डलविधिनाम- भो० ।
2. नमो भगवते मञ्जुश्रीज्ञानसत्त्वाय- भो० ।
3. प्रागुक्तै०- भो० ।
4. भव्योऽयं- भो० ।
5. 'इन्दौ' नास्ति- भो० ।

सर्वदिक्त्र्यध्वसंभूतबुद्धानां पुरतः स्थितः ।
हृत्प्रभोद्भवरूपाद्यैः पूजां कृत्वा विधानतः ॥ 10 ॥

स्वासत्संकल्पमात्रोत्थं त्र्यध्वजं दुष्कृतं कृतम् ।
स्वप्नस्वप्नादिवत् सर्वं त्रिष्कृत्वा देशयाम्यहम् ॥ 11 ॥

सम्बुद्धसत्सुतार्याणामन्येषां यच्छुभं शुभम् ।
निःशेषमनुमोद्याहं सम्बोधौ नामयाम्यनु ॥ 12 ॥

याचेऽहं सर्वबुद्धानां सर्वामाश्वासदायिका[म्] ।
देशनाकाशसंस्थानां भातु लोकेऽखिलेऽनघा ॥ 13 ॥

शुद्धनिःशेषसंकल्पान् प्रत्यात्मानन्दवेदिनः ।
संबुद्धान् शरणं यामि स्वपरार्थफलप्रदान् ॥ 14 ॥

सत्सत्त्वाशेषसद्धर्ममागमाधिगमात्मकम् ।
सत्सम्पदाश्रयाचिन्त्यशरणं समुपैम्यहम् ॥ 15 ॥

प्राप्ताश्वासमवैवर्त्यं निष्यन्दादिफलैर्युतम् ।
गुह्याभिषेकजं चैव गतोऽस्मि शरणं गणम् ॥ 16 ॥

मुनीन्द्रसूनुसन्मार्गं चर्यानन्ताग्रबोधकम् ।
सर्वबुद्धात्मसद्बुद्ध्या समाश्रितोऽस्म्यतोऽधुना ॥ 17 ॥

सर्वावृति(तिं) समुद्घात्य[ा]नन्तज्ञानामृतास्पदम् ।
भ्रमिदृष्टिप्रबोधाय बोधौ सर्वं दधे मनः ॥ 18 ॥

बोधिचित्ताच्च[1] बुद्धत्वं फल(लं) हेतोरसङ्गतः ।
प्रत्यात्मवेद्यधर्मत्वाच्छून्यज्ञानात्मको ह्यहम् ॥ 19 ॥

ॐ शून्यताज्ञानवज्रस्वभावात्मकोऽहम् ।

हूँकारं वाप्यथोष्णीषान्(षं) शाश्वतादिकमेव वा ।
रक्षार्थं क्रोधचक्रस्थो ध्यायाद्विघ्नान् प्रमर्दयन् ॥ 20 ॥

1. ०चित्तं च- भो० ।

धर्मधातुं ततो ध्यायात् त्र्यस्त्रं[1] शुक्लोर्ध्वसंस्थितम् ।
दिक्चक्रवर्तिचित्राभमन्तःखाधोब्जवज्रगम् ॥ 21 ॥

तत्र भ्रूंकारचक्रोत्थं सविद्यशाश्वतोद्भवम् ।
स्फुरद्बुद्धौघखव्यापि चतुरस्त्रादिसंयुतम् ॥ 22 ॥

शशिसूर्यसमाक्रान्तं विश्वाब्जदेवतासनम् ।
विभक्ताशेषसद्रत्नं कूटागारं प्रभावयेत् ॥ 23 ॥

स्वरलक्षणसंयुक्तं कादिव्यञ्जनरश्मिकम् ।
मध्यचन्द्रासने चित्तं ज्ञानचन्द्रं विभाव्य तत् ॥ 24 ॥

तत्राद्यहृद्भवं वज्रं रक्तमाद्यहृदायुतम् ।
कृतजिनाभदेह्यर्थ[2]स्तदहंकृतिमान् स्वयम् ॥ 25 ॥

स्फटिकेन्द्वङ्गमूलास्यं नीलसव्येतरारुणम् ।
सर्वाकारवरोदारं सद्गुणाभरणाम्बरम् ॥ 26 ॥

द्विभुजाश्लिष्टसत्प्रज्ञं वज्रपर्यङ्कसुस्थिरम् ।
वज्रखड्गभुजं सव्ये वामे स-[3]मणिपद्मिनम् ॥ 27 ॥

प्रज्ञोपायात्मकं श्रीमज्जगत्सम्पत्समाश्रयम् ।
समन्तभद्रमात्मानं भावयेत्स्फरणत्विषम् ॥ 28 ॥

महारागविनेयं तल्लोकमालोक्य भाजनम् ।
सुरतध्वनिना स्वान्तर्जिनवृन्दं निवेशयेत् ॥ 29 ॥

तल्लोचनादिसद्विद्यारूपादिविषयात्मभिः ।
प्रोत्सृज्य नवधा देवीः स्वविद्यान्तर्निवेशयेत् ॥ 30 ॥

स्वयोषित्पद्मकर्कट्यां सुरतोद्भवमण्डलम् ।
निर्मायात्र जगत्कृत्स्नमाश्वासाय प्रवेशयेत् ॥ 31 ॥

---

1. 'शुक्लम्' इत्यधिकम्- भो०।
2. भोटपाठे शब्दशः अनुवादापेक्षया भावानुवादः कृत इति प्रतीयते।
3. 'सत्' नास्ति- भो०।

खव्यापिबुद्धसन्मित्रैः स्ववज्रान्तर्द्रवोद्धवैः ।
सेचयेदविवर्त्यर्थं तत्त्वज्ञानफलाप्तये ॥ 32 ॥

आश्वस्तं तज्जगद्दृष्ट्वा बीजैश्चातः स्वभावजैः[1] ।
उत्सृजेत् सर्वसत्त्वांश्च जगच्चित्तात्मभावजान् ॥ 33 ॥

क्षितिगर्भादिकाञ्छट्कांश्चक्षुरादिस्वभावजान् ।
क्षिँ ज्रँ[2] खँ गँ ष्कमित्येभिः[3] सँ बीजाच्च यथाक्रमम् ॥ 34 ॥

रूपवज्रादिकाञ्छट्कान् बाह्याध्यात्मस्वभावजान् ।
जः हूँ वं होः खमित्येते रँ बीजाच्च बहिःस्थितान् ॥ 35 ॥

लोचनाद्यास्तु ता विद्याः पृथिव्यादिस्वभावजाः ।
लाँ माँ पाँ तामिति त्वेभिर्जगद्धर्मात्मतत्त्वजाः ॥ 36 ॥

शाश्वताद्यांस्तु संबुद्धान् रूपादिस्कन्धस्वभावजान् ।
बुँ आँ ज्रीँ-भिश्च खँ हूँ-भ्यां[4] सर्वधर्मान् समुत्सृजेत् ॥ 37 ॥

ॐ आः हूँ इति तच्चित्तं भास्वद्भोभ्यां विदर्भितम् ।
गुह्यपद्मोदरान्तस्थं मृदुनिष्यन्दशुद्धये ॥ 38 ॥

ते च रागाग्निसंदीप्ते कायद्वयद्रवीकृते ।
सन्मित्राभातद्दिग्देवीगीत्या ध्यायात् सुचोदनाः[5] ॥
(सन्मित्राभासदिग्देवीगीत्याऽध्येषेत्सुचोदनः) ॥ 39 ॥

त्वं वज्रचित्त भुवनेश्वर सत्त्वधातो-
स्त्रायाहि मां रतिमनोज्ञ महार्थकामैः ।

---

1. बीजैश्च तस्य भावजैः- भो० ।
2. क्षिँ ज्रीँ- भो० ।
3. ०ष्कमप्यन्यत्- भो० ।
4. भ्रुँ आँ ज्रीँ खँ हूँ- भो० ।
5. ०गीत्यध्येषणात् सम्यक् चोदयेत्- भो० ।

कामाहि मां जनक सत्त्वमहाग्रबन्धो
यदीच्छसे जीवितु मह्य[1](मञ्जु)नाथ ॥ 40 ॥

त्वं वज्रकाय बहुसत्त्वप्रियाङ्गचक्र
बुद्धार्थबोधिपरमार्थहितानुदर्शी ।
रागेण रागसमयां मम कामयस्व
यदीच्छसे जीवितु मह्य[2](मञ्जु)नाथ ॥ 41 ॥

त्वं वज्रवाच सकलस्य हितानुकम्पी
लोकार्थकार्यकरणे सद संप्रवृत्तः ।
कामाहि मां सुरत[3]चर्य समन्तभद्र
यदीच्छसे जीवितु मह्य[4](मञ्जु)नाथ ॥ 42 ॥

त्वं वज्रकाम समयाग्र महाहितार्थ
संबुद्धवंशतिलकः समतानुकम्पी[5] ।
कामाहि मां गुणनिधिं बहुरत्नभूतां[6]
यदीच्छसे जीवितु मह्य[7](मञ्जु)नाथ ॥ 43 ॥[8]

उत्थापन्यनुरोधात्तद्[9]द्रवं पश्यन् विपत्तिवत् ।
मायावद्वस्तुसंवित्त्या स्वमन्त्रार्थः पुनर्भवेत् ॥ 44 ॥

कुङ्कुमाकारमूलास्यो नीलसव्यसितेतरः ।
कुमाराभरणाकारः प्रज्ञानन्दैकसुन्दरः ॥ 45 ॥

---

1. मेऽद्य- भो०; मञ्जु- गु० स० त०; प्रदीपोद्योतनटीका ।
2. मेऽद्य- तत्रैव।
3. विमल०-भो०।
4. मेऽद्य- भो०; मञ्जु- गु० स० त०; प्रदीपोद्योतनटीका ।
5. समतानुदर्शी- भो०।
6. गुणनिधिस्वर्गरत्नभूतां- संस्कृतमातृकायाम्, गृहीतस्तु भोटानुसारी। गुह्यसमाजेऽपि गृहीत एव पाठः।
7. मेऽद्य- भो०; मञ्जु- गु० स० त०; प्रदीपोद्योतनटीका ।
8. द्र०- गु० स० त० 17.72-75; प्रदीपोद्योतनटीका- पृ० 224-225
9. 'तद्' नास्ति-भो०।

द्विभुजाश्लिष्टसत्प्रज्ञः स्वाभप्रज्ञाधरास्य[1]धृक् ।
भास्वत्कृपाणसद्घ्राणनीलोत्पलधनुःकरः ॥ 46 ॥

स्फुरद्बुद्धौघनिर्माणनिष्पादितजगत्त्रयः[2] ।
स्वबीजोद्भवचिह्नोत्थमञ्जुवज्रः स्वयं भवेत् ॥ 47 ॥

भवसंगाद्भवोऽनन्तः शमसङ्गो विपत्तिभाक् ।
मायया कृतसंसेवो धर्मधात्वात्मको भवेत् ॥ 48 ॥

ॐ धर्मधातुस्वभावात्मकोऽहम्।

सन्मित्रैः कृतनिष्यन्दः पाकात्सर्वज्ञतामियात् ।
तच्चक्षुराद्यधिष्ठानमुपसाधन[3]मिष्यते ॥ 49 ॥

क्षितीशकुलिशाकाशलोकेशस्कम्भिभद्रकैः ।
संपूर्य चक्षुरादीनि तद्बीजैः पौरुषं वहेत्[4] ॥ 50 ॥

धर्मसंभोगनिर्माणवाहिनी जगदर्थता ।
चित्तगुह्याद्यधिष्ठानं साधनार्थमतो भवेत् ॥ 51 ॥

स्वहृत्कण्ठशिरश्चन्द्रे हूँ-आः-ॐ-जांश्च सत्प्रभून् ।
वज्राब्जचक्रमध्यस्थान् ध्यात्वा चित्तादिगुह्यकान् ॥ 52 ॥

तद्भूतप्रज्ञाङ्गसङ्गार्च्यी रूपवज्रादिरश्मिभिः ।
संपूज्य सर्वदिक्त्र्यध्वव्याप्ताशेषविनायकान् ॥ 53 ॥

कृतार्थसम्पदां तेषां ये हृत्कण्ठशिरोगताः ।
चित्तवज्रादयस्तांस्तु तदधिष्ठाने प्रयाच(साध)येत् ॥ 54 ॥

चित्तवज्रधरः श्रीमांस्त्रिवज्राभेद्यभावितः ।
अधिष्ठानपदं मेऽद्य करोतु चित्तवज्रिणः ॥ 55 ॥

---

1. 'आस्य' नास्ति-भो०।
2. ०जगत्त्रयार्थः-भो०।
3. संस्कृतमातृकायां 'उपधानम्'; गृहीतस्तु भोटानुसारी।
4. भोटपाठे 'वहेत्' इत्यस्य स्थाने अग्रिमश्लोकगत-'धर्मसंभोग'-शब्दयोः अनुवादो दृश्यते।

दशदिक्संस्थिता बुद्धास्त्रिवज्राभेद्यभाविताः ।
अधिष्ठानपदं मेऽद्य कुर्वन्तु चित्तवज्रिणः ॥ 56 ॥[1]

ॐ सर्वतथागतचित्तवज्रस्वभावात्मकोऽहम्।

धर्मो वै वाक्पथः श्रीमांस्त्रिवज्राभेद्यभावितः ।
अधिष्ठानपदं मेऽद्य करोतु वाग्वज्रिणः ॥ 57 ॥

दशदिक्संस्थिता बुद्धास्त्रिवज्राभेद्यभाविताः ।
अधिष्ठानपदं मेऽद्य कुर्वन्तु वाग्वज्रिणः ॥ 58 ॥[2]

ॐ सर्वतथागतवाग्वज्रस्वभावात्मकोऽहम्।

कायवज्रधरः[3] श्रीमांस्त्रिवज्राभेद्यभावितः ।
अधिष्ठानपदं मेऽद्य करोतु कायवज्रिणः ॥ 59 ॥

दशदिक्संस्थिता बुद्धास्त्रिवज्राभेद्यभाविताः ।
अधिष्ठानपदं मेऽद्य कुर्वन्तु कायवज्रिणः ॥ 60 ॥[4]

ॐ सर्वतथागतकायवज्रस्वभावात्मकोऽहम्।

षोडशानुस्मृतेः शुद्धौ कुर्वन्तीति तदुक्तवान् ।
तस्य चित्ताद्यधिष्ठानं नोक्तमप्रस्तुतोक्तितः[5] ॥ 61 ॥

त्रिगुह्यलक्षणं वीक्ष्य मायाप्रज्ञाङ्ग[6]सङ्गतः ।
मृदुवैमल्यसंशुद्धौ महासाधनमिष्यते ॥ 62 ॥

संचोद्य दिग्गतान् नाथान् ज्ञानसत्त्वहृदयार्चिषा ।
तत्प्रभोद्भवविद्याभिर्भृतकुम्भामृताम्बुभिः ॥ 63 ॥

---

1. द्र०-गु० स० त० - 12.74-75
2. द्र०-गु० स० त० - 12.72-73
3. बुद्धकायधरः - भो०।
4. द्र०-गु० स० त० - 12.70-71
5. 'उक्ति' नास्ति- भो०।
6. 'अङ्ग' नास्ति- भो०।

स्वाभिषिक्तः प्रभुः श्रीमान्कुलेशमकुटोत्तमः ।
निष्यन्दाद्यैस्तथा मध्यैः स्वाभां प्रज्ञां विशोधयेत् ॥ 64 ॥

शिरोहृन्नाभिगुह्ये स्याच्चरणान्ते च प्रत्यणून् ।
ॐ-हूँ-स्वा-हृद्भिः आः-हाभ्यां शाश्वतादिकुलात्मकैः ॥ 65 ॥

आपूर्य पञ्चसंबुद्धैः हूँ आः अष्टदलाब्जिकाम् ।
संविशोध्य तया बुद्धान् हूँ-सद्वज्रोऽनुरागयेत् ॥ 66 ॥

ॐ सर्वतथागतानुरागणवज्रस्वभावात्मकोऽहम्।

हृच्चन्द्रखड्गहृद्भाभिः खव्यापि बुद्धमण्डलम् ।
निवेश्यात्मनि सच्चित्तरूपं वज्राब्जसंस्थितम् ॥ 67 ॥

जिन[1]चक्रं स्वबीजेन तत्रोत्पाद्य स्थिरीकृतम् ।
उत्सृजेद् विधिनानेन[2] जगत्स्वज्ञानशुद्धये ॥ 68 ॥

संचोद्याधिपमक्षोभ्यं महाद्वेषार्थकृज्जिनम् ।
वज्रधृगिति चोत्सृज्य इन्द्रनीलमणिप्रभम् ॥ 69 ॥

सितसव्येतरारक्तं परमाद्य[3] भुजान्वितम् ।
संहृत्यात्मनि सच्छ्रीमान्सर्वभावैर्निवेशयेत् ॥ 70 ॥

जिनजिगिति चाद्याभं महामोहार्थकृद्विभुम् ।
सच्चक्राद्यन्वितं[4] तद्वद् ध्यायात् पूर्वेन्दुमण्डले ॥ 71 ॥

रत्नधृगिति रत्नेशं सुवर्णाभं समोद्यमम् ।
सद्रत्नाद्यन्वितं नाथं कुमारास्यं तु दक्षिणे ॥ 72 ॥

आरोलिगिति वागीशं महारागार्थकृत्प्रभुम् ।
पद्मरागाभपद्माद्यं कुमारास्यं तु पृष्ठतः ॥ 73 ॥

---

1. 'निज०' इति संस्कृतमातृकायाम्। गृहीतस्तु भोटानुसारी।
2. 'अनेन' नास्ति- भो०।
3. श्रीपरमाद्य- भो०।
4. ०चक्रादिश्रियम्- भो०।

प्रज्ञाधृगित्यमोघेशं महोग्रेर्ष्यार्थकृत्खजम्[1] ।
वैडूर्याभं कुमारास्यं ध्यायात्खड्गाद्यमुत्तरे ॥ 74 ॥

सजटामुकुटाः सर्वे[2] स्वविद्याद्वयसङ्गिनः ।
सर्वाभरणसद्वस्त्रा ध्येयाः पद्मार्कमण्डले ॥ 75 ॥

मोहरतीति आग्नेयां कृपोपायजनार्थदा ।
कायेशवत्स्वरूपा[3] स्याल्लोचना स्वेन्दुमण्डले ॥ 76 ॥

द्वेषरतीति नैर्ऋत्यां मैत्रीप्रणिधिकामदा ।
चित्तेशवद्रतौत्सुक्या मामकी चन्द्रमण्डले ॥ 77 ॥

रागरतीति वायव्यां मोदबलसमाधिदा ।
वागीशाभार्थशुद्धा सा[4] पाण्डरा चन्द्रमण्डले ॥ 78 ॥

वज्ररतीति चैशान्यामुपेक्षाज्ञानसाधिका ।
रत्नेशवत्स्वरूपा स्याच्चन्द्रे तारा मनोरमा ॥ 79 ॥

चक्रं रक्तोत्पलं दिव्यं पङ्कजं पीतमुत्पलम् ।
शिष्टं स्वाधिपवद्दिष्टं चिह्नमासां क्रमादतः ॥ 80 ॥

आग्नेयादिचतुष्कोणे पूर्वद्वारद्विपार्श्वयोः ।
रूपाद्या दर्पणाद्यैः स्युः कायाद्या ता(द्यास्ता)स्त्रितत्त्वतः ॥ 81 ॥

प्राग्द्वारे क्रोधपर्यङ्कश्चित्तेशाकारभासुरः[5] ।
यमान्तकृदितीतिघ्नः स्कन्धज्ञेयविनाशतः ॥ 82 ॥

कायेशाभोग्रदम्भी सो[6]ऽवाग्द्वारेऽपराजितः ।
प्रज्ञान्तकृ[7]दितीच्छाघ्नः स्वात्मदृक्क्लेशहानितः ॥ 83 ॥

---

1. 'खजम्' - नास्ति- भो० ।
2. 'सर्वै' - संस्कृतमातृकायाम् । गृहीतस्तु भोटानुसारी ।
3. '०वत्सरूपा' इति संस्कृतमातृकायाम् । गृहीतस्तु भोटानुसारी ।
4. 'सा' नास्ति- भो० ।
5. ०कारदृष्टिभासुरः- भो० ।
6. 'सः' नास्ति- भो० ।
7. 'प्रज्ञान्तककृत्' इति संस्कृतमातृकायाम् । गृहीतस्तु भोटानुसारी ।

मृत्युजन्मौघसांघाती पृष्ठद्वारेऽश्वकन्दरः ।
पद्मान्तकृदितीच्छाघ्नो वागीशाभोग्रघूर्णितः ॥ 84 ॥

अक्षोभ्याभोग्रविघ्नघ्न उत्तरेऽमृतकुण्डलिः ।
विघ्नान्तकृदिति द्वारक्रियासुरारिशुद्धितः ॥ 85 ॥

भ्रूभङ्गोर्ध्वज्वलत्केशबभ्रुभ्रूश्मश्रुलोचनाः ।
व्यावृतास्या ललज्जिह्वाः सदंष्ट्रोत्कटहासिनः ॥ 86 ॥

चण्डमुद्गरदण्डाब्जस्ववज्रादि[1] करास्त्वमी ।
क्रूरभुजङ्गभूषाङ्गाः स्वाभविद्याङ्गसङ्गिनः ॥ 87 ॥

निष्पन्नं चक्रमालोक्य निजभावेन सर्वतः ।
हृद्बीजाभांकुशैर्बुद्धांश्चक्राकारसमाहृतान् ॥ 88 ॥

दृष्ट्वा विघ्नान् स्वविघ्नघ्नैः[2] समुत्सार्याभिरक्ष्य च ।
दत्त्वार्घं मन्त्रं संजप्तं चन्द्रादिकुसुमान्वितम् ॥ 89 ॥

चक्रे निवेश्य तच्चक्रं चक्षुःकायाद्यधिष्ठितम् ।
प्राग्वत्सिक्तं च तद् ध्यायान्निष्यन्दाद्यधिमात्रतः ॥ 90 ॥

बुद्धानां मुकुटोऽक्षोभ्यः शेषाः स्वाधिपसेकिनः ।
कायेशाक्षोभ्यवागीशचित्तेशैर्द्वारिणो मताः ॥ 91 ॥

इत्यासिच्य स्वहृद्भाभिः प्रज्ञाब्जं तन्निवेशितम् ।
रूपाद्यं रोमकूपौ(पो)त्थं रूपवज्रादिरश्मिभिः ॥ 92 ॥

कूटागारप्रभोन्मुक्तैर्गगनान्तःप्रसर्पिभिः ।
संपूज्य स्वं मुनीन्द्रांश्च पूज्यपूजात्मको भवेत् ॥ 93 ॥

ॐ सर्वतथागतपूजावज्रस्वभावात्मकोऽहम् ।

सर्वः(र्व)धर्मैः स्तुयाच्चक्रं संबुद्धस्वात्ममूर्तिभिः ।
पञ्चज्ञानानि मुद्राभिः शतपञ्चकुलं त्रिकम् ॥ 94 ॥

---

1. 'स्व', 'आदि' नास्ति- भो० ।
2. 'स्वविघ्नघ्नैः' नास्ति- भो० ।

अक्षोभ्यवज्र महाज्ञान वज्रधातु महाबुध ।
त्रिमण्डल त्रिवज्राग्र घोषवज्र नमोऽस्तु ते ॥ 95 ॥

वैरोचन महाशुद्ध वज्रशान्त महारते ।
प्रकृतिप्रभास्वराग्राग्र्य देशवज्र नमोऽस्तु ते ॥ 96 ॥

रत्नराज सुगाम्भीर्य खवज्राकाशनिर्मल ।
स्वभावशुद्ध निर्लेप कायवज्र नमोऽस्तु ते ॥ 97 ॥

वज्रामृतमहाराज निर्विकल्प खवज्रधृक् ।
रागपारमिताप्राप्त भाषवज्र नमोऽस्तु ते ॥ 98 ॥

अमोघवज्रसंबुद्ध सर्वाशापरिपूरक ।
शुद्धस्वभावसंभूत वज्रसत्त्व नमोऽस्तु ते ॥ 99 ॥[1]

चन्द्रार्कवारिभैषज्यगन्धवाय्वग्निचक्रगम् ।
प्रणवाधिष्ठितं सार्च्चिस्त्रितत्त्वैरभिमन्त्रितम् ॥ 100 ॥

हूँन्यस्तवज्रसज्जिह्वो ध्यात्वा ज्ञानामृतैर्भृतम् ।
हृच्चन्द्रान्तर्गताशेषचक्रं तेन प्रतर्पयेत् ॥ 101 ॥

हृद्रश्मिनिर्मितैर्नाथैः स्वासत्सङ्कल्पवर्जितैः ।
बुद्धात्मकं जगत् कृत्वा हृद्बीजान्तर्निवेशयेत् ॥ 102 ॥

हृच्चिह्नवरटान्तस्थं चन्द्रहृद्बिन्दुरूपकम् ।
प्रभास्वत्स्वमनो ध्यात्वा ज्ञानसत्त्वं प्रभासयेत्[2] ॥ 103 ॥

चित्तवाक्कायवज्रं च प्रबोध्य रश्मिमालया ।
निविष्टां हृदि तां ध्यायात् स्वज्ञानामृतवाहिनीम् ॥ 104 ॥

अन्तस्तनुमतः सर्वां तया भास्य समन्ततः ।
प्रति[3]रोमप्रभाव्यूहैर्जगदर्थं प्रपूरयेत् ॥ 105 ॥

---

1. द्र०-गु० स० त० 17.1-5
2. प्रभावयेत्- भो० ।
3. 'प्रति' नास्ति- भो० ।

ध्यात्वा सूक्ष्मं स्वचिह्नं वा विद्यानासाग्रसंस्थितम्।
मुनिचक्रं स्वसंवेद्यं सत्प्रज्ञासङ्गभास्वरम् ॥ 106 ॥

दृष्ट्वा स्थैर्यनिमित्तं तु स्फरणं तद्रश्मिनिमित्तैः(र्मितैः)।
बुद्धैर्नानाविधैश्चिह्नैर्विदधीत पुनः पुनः ॥ 107 ॥

कायवाक्चित्तसद्वज्रात् पञ्च सज्ञानरश्मिकम् ।
स्फरन्मन्त्रं जपं कुर्याद् युगपत् क्रमशोऽथवा ॥ 108 ॥

वज्राच्छधर्म तच्चक्रं कायवाक्चित्तवज्रगम् ।
निलयनं दृढीकुर्वज्ज्ञानकायं स्फरज्जपेत् ॥ 109 ॥

उच्चारयेत्स्फरन्प्राणैर्मन्त्रमायामसंहृतम् ।
कायादिस्फारसंहारैः कुर्याज्जापं यथाक्रमम् ॥ 110 ॥

उच्चार्यैवं वियद् व्याप्य कायाद्यैस्तैः स्वरश्मिभिः।
प्राग्वत्सच्चित्रपूजार्हं प्राणाद्विद्यौघमुत्सृजन् ॥ 111 ॥

परिगूढोल्लसद्विद्यासुखावेशवशीकृतम् ।
आयामाज्ञा(ज्ञा)नबुद्धौघं स्वात्मन्यन्ते निवेशयेत्॥ 112 ॥

निष्यन्दाद्यधिमोक्षैश्च बिन्दुसूक्ष्मत्रिगुह्यजाः ।
ध्येया मृद्वादिभिर्भेदैर्योगाः सेवादिवत्तथा ॥ 113 ॥

स्वहृत्तत्त्वपरामर्षा(र्शा)त्परीत्तचित्तसंसृतेः ।
लोचनादिगणोद्गीतैश्चक्रमभ्यर्च्य पूजयेत् ॥ 114 ॥

मूर्ध्नीन्दुप्रणवार्द्रां तु सच्चित्तवारिवाहिनीम् ।
विधिवत्पातयन्कुर्यात्कायवाक्चित्तप्रीणनम् ॥ 115 ॥

विश्रम्यैवं जपं कृत्वा कृतपूजादिको बुधः ।
त्रितत्त्वसंहृता[1]न्बुद्धान्गतसङ्गो विसर्जयेत् ॥ 116 ॥

---

1. 'त्रितत्त्वात्माहिता'-इति संस्कृतमातृकायाम्। गृहीतस्तु भोटानुसारी।

एवं[1] तत्त्वदृशामुक्तं जगत्कृत्स्नं विलोक्य च ।
प्रणिधिमा[2]मुखीकुर्यात्कृपया तद्धिताय तु ॥ 117 ॥

समाधितः समुत्थाय गर्वं पत्युः समुद्वहन् ।
चारगतस्तु सम्बुद्धविषयैः संप्रपूजयेत् ॥ 118 ॥

श्रीमञ्जुवज्रसर्वात्मान् स्वभाव[3]विषयानुगान् ।
विषयान्भावयन्नेवं स्वस्वशुद्ध्या प्रतिष्ठितान् ॥ 119 ॥

शाश्वतादिस्वभावांस्तान् प्रत्यात्मधर्मसंस्थितान् ।
श्रीमद्वज्रधराकारान् शुद्धसत्त्वसमन्वितः ॥ 120 ॥

सर्वं सम्पादयेत्कृत्यं स्वासत्सङ्कल्पवर्जितः ।
सच्चक्रानन्त पूजेय सदामेयाश्च योगिनः ॥ 121 ॥

स्वहृच्चन्द्रे स्वचक्रेशं निजबीजैः स्वभोजनम् ।
समालम्ब्य स्वहृत्तत्त्वैः सर्वबुद्धामृतायितम्[4] ॥ 122 ॥

सर्वधर्मतया शुद्धं त्रितत्त्वैरभिमन्त्रितम् ।
स्वाधिदैवतसच्चक्रं प्रीणयंस्तेन पूजयेत् ॥ 123 ॥

होमो[5] बाह्योऽनुमेयो[6]ऽयं चित्तमात्रान्मनोमयः[7] ।
अनुत्तरस्त्वयं ज्ञानाग्निस्कन्धेन्धनदाहतः ॥ 124 ॥

कामैरेवं समस्तैः स्वस्वदेवात्मस्वभावजम् ।
परांश्च पूजयेदेवं समयः सुगतैर्मतः ॥ 125 ॥

तत्तत्कायादि यत्कर्म सर्वबुद्धांस्तु पूजयन् ।
अनुरूपं जगत्कार्यं कुर्यान्नित्यं समाहितः ॥ 126 ॥

---

1. एतत्- भो०।
2. ०धीना०- भो०।
3. 'स्वाभाति' इति संस्कृतमातृकायाम्। गृहीतस्तु भोटानुसारी।
4. ०मृताप्यायितम्- भो०।
5. 'मोहो' इति संस्कृतमातृकायाम्। गृहीतस्तु भोटानुसारी।
6. 'बाह्यः शुभनयः' इति भोटपाठे।
7. '०न्नमोनमः' इति संस्कृतमातृकायाम्। गृहीतस्तु भोटानुसारी।

यत्कायवाङ्मयं कर्म[1] मुद्रामन्त्रात्मकं महत् ।
तत्तत्कर्म समासाद्य सर्वबुद्धांस्तु पूजयेत् ॥ 127 ॥

वस्तुन्येकत्र संकल्पा नानाकारावभासिनः ।
मुक्तिदुःखसुखोत्पादाः कर्माशेषा भवन्ति यत्[2] ॥ 128 ॥

तस्माच्छुभाशुभं कर्म कायाद्यं कल्पनोद्भवम् ।
सर्वासत्कल्प[3]निर्मुक्तेर्ज्ञानैस्तत्कल्पना कथम् ॥ 129 ॥

अमोघवज्रसच्चक्री समयोत्थापनाय तु ।
हृत्कर्म वज्रखं ध्यात्वा सर्वशुद्ध्याभिषेचयेत् ॥ 130 ॥

गुर्ववज्ञादिके दोषे सदानं भोज्यमावहेत् ।
बाह्यस्नानं स्वचक्रस्थः कुर्यात्सेकविधानतः ॥ 131 ॥

सन्ध्यान्तरेऽपि पूजादि जपं कृत्वा तु पूर्ववत् ।
हृद्यन्तर्गतसच्चक्रः सुप्यात्प्रज्ञाकृपान्वितम् ॥ 132 ॥

उत्थानसमये श्रीमान् देवीसंगीतिचोदितः ।
प्रातरुत्थाय प्राग्वत्तु संजपेदादिकर्मिकः ॥ 133 ॥

मन्त्रशीलव्रतैर्युक्तश्चक्षुःकायाद्यधिष्ठितः ।
ज्ञाने किञ्चित् समावेशी जपेत्सन्ध्यास्वतन्द्रितः ॥ 134 ॥

सर्वाकारसुनिष्पन्नं स्फरत्संहारकारकम् ।
प्राप्तज्ञानवशी किञ्चिदनिशं योगमाश्रयेत्[4] ॥ 135 ॥

सम्यग्ज्ञानवशी ध्यायन् कुर्यात्कार्यं जगद्धितम् ।
धात्वण्वन्तस्त्रिसच्चक्रैः[5] प्रतिबिम्बात्ममूर्तिभिः ॥ 136 ॥

---

1. 'यत्कायवाक्कर्ममयम्' इति भोटपाठे।
2. 'यत्' नास्ति- भो०।
3. 'सर्वसंकल्प' इति भोटपाठे।
4. समाश्रयेत्- भो०।
5. ०सद्धातुभिः- भो०।

संसिद्धावसकृल्लब्ध्वा योगी निमित्तमेव तु[1] ।
त्रितत्त्वां विधिवत्पूजां कृत्वा मण्डलमालिखेत् ॥ 137 ॥

चक्रस्थो विधिवज्जप्त्वा स्वयं वाध्येषितोऽपि वा[2] ।
परार्थं घटमानोऽपि निमित्तं प्राप्य संलिखेत् ॥ 138 ॥

चक्रिमन्त्रं जपेल्लक्षं लक्षं वा स्वाधिदैवतम् ।
अन्येषामयुतं सम्यक् चक्रिणां वाऽज्ञया लिखेत् ॥ 139 ॥

त्रितत्त्वैर्गर्भितोत्सर्गानन्यान् हृद्बीजगर्भितान् ।
सानुस्वाराद्यवर्णांस्तु नाम्नो मन्त्रान् समुद्धरेत् ॥ 140 ॥

कायवाक्चित्तगुह्याख्या[3] कर्मधर्ममहात्मिका ।
त्रिगुह्या समया मुद्रा[4] बीजं हृदयमुच्यते ॥ 141 ॥

कर्मकर्त्री तु विद्योक्ता शान्त्यादिप्रतिचोदनात्[5] ।
मालामन्त्राश्च विद्योक्ता[:] सर्वथा ता जपेद्बुधः ॥ 142 ॥

यथायोगं जपं कृत्वा लब्ध्वाज्ञां स्वाधिपादितः ।
निरोधचक्रमाभुज्य[6] स्वचित्तशुद्धितो लिखेत् ॥ 143 ॥

विघ्नानुत्सार्य संकील्याभ्युक्ष्य क्ष्मां प्रार्थ्य याचयेत् ।
समाधित्रितयं कृत्वा बुद्धादीनधिवास्य च ॥ 144 ॥

दत्वा बल्यर्घमापूज्य होमैराप्याय्य खे न्यसेत् ।
खानयेत् क्ष्मां सुनिर्विघ्नां गर्त्तापूरेऽप्ययं क्रमः ॥ 145 ॥

आचीर्णपूर्वसंसेवो मञ्जुवज्रात्मयोगवान् ।
संस्कृत्य मण्डलस्थानं सहायैः पूजयान्वितः ॥ 146 ॥

---

1. योगी शुभनिमित्त०- भो० ।
2. वान्येषितोऽपि वा- भो० ।
3. वज्राख्या- भो० ।
4. समयमुद्रा- भो० ।
5. प्रचोदनात्- भो० ।
6. ०माभाव्य- भो० ।

विघ्नारिचक्रयोगस्थः स्वाभिषेकं समाददेत् ।
दुष्टान्निकृन्तयेदेवं योगाद्वा स्वाधिदैवतात् ॥ 147 ॥

ॐ भूः[1] खमिति मन्त्रेण वियद्भूतां वसुन्धराम् ।
हूँ लँ हूँ इति वज्रात्मक्ष्मां कृत्वा तामधिष्ठयेत् ॥ 148 ॥

ॐ मेदिनि[2] वज्रीभव वज्रबन्ध हूँ।

प्राग्वद्विघ्नघ्नयोगात्मा सेवाद्यन्तानुरागणः ।
आदियोगी स्वचक्रं तु प्रोत्सृज्यात्तामृतश्च[3] सः ॥ 149 ॥
चक्रराजाग्रियोगात्मा चक्रकर्म सुकर्मकृत् ।
कर्मराजाग्रियोगीति समाधित्रयमुत्तमम् ॥ 150 ॥

एतद्योगस्थ[4] आचार्यः सर्वबुद्धात्ममूर्तिकः ।
स्वभावशुद्धवज्रात्मा चक्रभूमध्यसंस्थितः ॥ 151 ॥

वज्रघण्टाधरो वीरोऽध्येष्यस्त्रिचक्रनिर्मितौ ।
सहायैर्वज्रघण्टाग्रैः शाश्वताद्यात्ममूर्तिभिः ॥ 152 ॥

सर्वताथागतं शान्तं सर्वताथागतालयम् ।
सर्वधर्माग्रनैरात्म्यं देश मण्डलमुत्तमम् ॥ 153 ॥

सर्वलक्षणसम्पूर्णं सर्वालक्षणवर्जितम् ।
समन्तभद्रकायाग्रं(ग्र्यं) भाष मण्डलमुत्तमम् ॥ 154 ॥

शान्तधर्माग्रसंभूतं ज्ञानचर्याविशोधकम् ।
समन्तभद्रवाचाग्रं(ग्र्यं) भाष मण्डलमुत्तमम् ॥ 155 ॥

सर्वसत्त्वमहाचित्तं शुद्धं प्रकृतिनिर्मलम् ।
समन्तभद्रचित्ताग्र्यं घोष मण्डल[5] सारथे ॥ 156 ॥[6]

---

1. भु- भो०।
2. मेदिनी- भो०।
3. ०न्तामृत०- भो०।
4. एवं योगस्थ- भो०।
5. मण्डलमुत्तमं- भो०।
6. द्र०-गु० स० त० 4.1-4

वीक्ष्यातो मञ्जुराट् क्रुद्धः सत्त्वधातुं तमिस्त्रितम् ।
हूँ वज्रोत्तिष्ठेति स्व[ा]क्षश्चक्रमुत्क्षिप्य निर्मितम् ॥ 157 ॥

मट्कारचन्द्रसूर्याक्षः सर्वाध्वदिक्षु दीपयन् ।
जगदालोकयन्धीमांश्चक्रभूमौ परिक्रमेत् ॥ 158 ॥

पादतलज्वलद्वज्रो वज्रोल्लालनतत्परः ।
लीलावज्रपदं नृत्यन् सदंष्ट्रोत्कटहूँकृतः ॥ 159 ॥

प्रोत्सारयेत्प्रदुष्टौघान्[1] देवाद्यान्विघ्नमण्डलान् ।
शृण्वन्तु सर्वविघ्नौघाः कायवाक्चित्तसंस्थिताः ॥ 160 ॥

अहं मञ्जुरवः श्रीमान् रक्षाचक्रप्रयोजकः ।
वज्रेणादीप्तवपुषा स्फालयामि त्रिकायजान् ॥ 161 ॥

लंघयेद्यदि कश्चिन्मे[2] विशीर्येतात्र नान्यथा[3] ।
भूमे[:] परिग्रहं कृत्वा निर्विघ्नाय प्रकीलयेत् ॥ 162 ॥

[4]ॐ घ घ घातय घातय सर्वदुष्टान् फट् कीलय कीलय सर्वपापान् फट्[5] हूँ हूँ हूँ वज्र कील[य] वज्रधर आज्ञापयति[6] कायवाक्चित्तवज्र कीलय हूँ फट्।

अधः शूलोर्ध्वविघ्नारिं धिया[7] मध्ये प्रकीलयेत् ।
विघ्नौघान् घातयेत् सर्वान् दशदिक्संव्यवस्थितान् ॥ 163 ॥

संवीक्ष्य[8] क्ष्मां सुनिर्विघ्नां तीक्ष्णज्वालाकुलप्रभाम् ।
सीमाप्राकारदिग्बन्धान् धिया कृत्वाधिवासयेत् ॥ 164 ॥

---

1. प्रदुष्टविघ्नाद्यान्- भो०।
2. लङ्घयेन्मम यद्याज्ञाम्- भो०।
3. विशीर्येत न संशयः- भो०।
4. इतः पूर्वम् 'मन्त्रः'- इति शब्दः भोटपाठे।
5. ०पापं फट्-फट्- भो०।
6. 'आज्ञापयति' इत्यनन्तरं 'सर्वदुष्ट' इत्ययं शब्दः काकपदचिह्नेन निवेशितः, यो भोटपाठे नास्ति।
7. ध्यात्वा- भो०।
8. ध्यात्वा- भो०।

त्वं देवि साक्षिभूतासि सर्वबुद्धान्(नां)तायिनाम् ।
चर्यानयविशेषेषु भूमिपारमितासु च ॥ 165 ॥[1]

यथा मारबलं भग्नं शाक्यसिंघे(हे)न तायिना ।
तथा मारबलं जित्वा मण्डलं लेलिखाम्यहम् ॥ 166 ॥

क्ष्मां संलिप्य सुगन्धाद्यैश्चित्रैः पुष्पैः प्रकीर्य च ।
चन्द्राद्यैश्चक्रिणां स्थाने प्रकुर्यान्मण्डलं बुधः ॥ 167 ॥

तत्रावाह्य तु स[2]च(च्च)क्रं कृत्वा सीमादिबन्धनम् ।
पूजास्तुत्यामृतास्वादं कलशानधिवासयेत् ॥ 168 ॥

वस्त्राच्छादितसद्ग्रीवांश्चूतादिपल्लवान्वितान् ।
कलशान्माण्डलेयानां तन्मन्त्रैरधिवासयेत् ॥ 169 ॥

पञ्चव्रीह्यौषधीरत्नगन्धाम्बुचक्रसंचयम् ।
स्त्रग्बद्धवज्रमूर्धानं चक्रेशेन जयं जपेत्[3] ॥ 170 ॥

अर्घं दत्वा समापूज्य प्रक्षिप्य सितपुष्पकम् ।
धूपाधिवासितं[4] तत्र सद्गन्धाद्यब्जभाजनम् ॥ 171 ॥

प्रतिदिनं त्रिसन्ध्यासु बलिं दत्वा तथा जपेत् ।
ते च चक्रबहिष्कोणे जयश्चक्रेशसव्यतः ॥ 172 ॥

तेभ्योऽर्घभाजने तोयं क्षिप्त्वा तेनाभिषेचनात् ।
आत्मनः सर्वशिष्याणां जलाभिषेचनं भवेत् ॥ 173 ॥

चक्रपूजां पुनः कृत्वा धूपमुत्क्षिप्य पाणिना ।
चक्रेशं प्रार्थयेद्धीमान्बुद्धांश्च[5] जानुसंस्थितः ॥ 174 ॥

---

1. द्र०-कृष्णयमारितन्त्र- 14.6
2. 'स' नास्ति- भो०।
3. 'जपेत्' नास्ति-भो०।
4. धूपादिवा०- भो०।
5. सुगतान्- भो०।

भगवा(व)न् मञ्जुसद्वज्र विद्याराज नमोऽस्तु ते ।
इच्छामि लिखितुं नाथ[1] मण्डलं करुणात्मकम्[2] ॥ 175 ॥

शिष्याणामनुकम्पायै युष्माकं पूजनाय च ।
तन्मे भक्तस्य भगवन् प्रसादं कर्तुमर्हसि ॥ 176 ॥

समन्वाहरन्तु मां बुद्धा जगच्चक्रक्रियार्थदाः ।
फलस्था बोधिसत्त्वाश्च याश्चान्या मन्त्रदेवताः ॥ 177 ॥

देवतालोकपालाश्च भूताः संबोधिशासिताः[3] ।
शासनाभिरताः सत्त्वा ये केचिद्वज्रचक्षुषः[4] ॥ 178 ॥

अमुकोऽहं महावज्री[5] मञ्जुश्र्युदयमण्डलम् ।
लिखिष्यामि जगच्छुद्ध्यै यथाशक्त्युपचारतः ॥ 179 ॥

अनुकम्पामुपादाय सशिष्यस्तुष्यतु मम ।
मण्डले सहिता[:] सर्वे सानिध्यं[6] कर्तुमर्हथ ॥ 180 ॥

निमन्त्र्यैवं त्रिवारांस्तान् कृत्वा पूजादिकं विभोः ।
समारक्ष्य बहिर्गत्वा स्वशिष्यान् स्रक्करग्रहान् ॥ 181 ॥

मनीषिणो महोत्साहान् कृतज्ञान्निरहङ्कृतान् ।
कुलिनो गुणिनः श्राद्धान्रूपवर्णवयोऽन्वितान् ॥ 182 ॥

अर्थिनश्चाभियुक्तांश्च सौगतान्मन्त्रसाधने ।
विरूपान्निर्गुणांश्चापि हीनानप्यधिवासयेत् ॥ 183 ॥

चतुर्णामप्यनुज्ञातः पर्षदां मण्डले विधिः ।
शिक्षासु स्वासु युक्तानां महायानरतात्मनाम् ॥ 184 ॥

---

1. 'नाथ' नास्ति- भो०।
2. करुणात्मकानाम्- भो०।
3. ये भूताः महाप्रभावाः- भो०।
4. ये केचिद्दिव्यचक्षुषः- भो०।
5. 'महावज्री' नास्ति- भो०।
6. अधिष्ठानं- भो०।

मन्त्रसिद्ध्यर्थिनः केचित् प्रविशन्तीह मण्डले ।
पुण्यकामास्ततोऽन्ये च परलोकार्थिनोऽपरे ॥ 185 ॥

परलोकं समुद्दिश्य[1] श्रद्धां कृत्वा च भूयसीम् ।
प्रविशेन्मण्डलं धीमान्नैहिकं फलमीहयेत् ॥ 186 ॥

ऐहिकं काङ्क्षमाणस्य न तथा पारलौकिकम् ।
परलोकार्थिनः पुंसः पुष्कलं त्वैहिकं फलम् ॥ 187 ॥[2]

एवमुक्त्वा तु तान् शिष्यान् धिया सा(स्वा)न्तर्निवेशितान् ।
प्रागवद्वज्राब्जसंशुद्धान् गृहद्वारे तु याचयेत् ॥ 188 ॥

त्वं मे शास्ता महारत [आचार्य समन्वाहर[3]] ।
इच्छाम्यहं महानाथ महाबोधिनयं दृढम् ॥ 189 ॥

देहि मे समयं तत्त्वं बोधिचित्तं च देहि मे[4] ।
बुद्धं धर्मं च संघं च देहि मे शरणत्रयम् ॥ 190 ॥

प्रवेशयस्व मां नाथ महामोक्षपुरं वरम् ।
त्रिरुच्चार्यैतान् शिष्याञ्ज्ञात्वा यद्भक्तिवत्सलान् ॥ 191 ॥

प्रधानं शिष्यमेकं तु कृत्वा ब्रूयादिदं वचः ।
एहि वत्स महायानं मन्त्रचर्यानयं विधिम् ।
देशयिष्यामि ते सम्यग् भाजनस्त्वं महानये ॥ 192 ॥

बुद्धास्त्रि-अध्वसंभूताः कायवाक्चित्तवज्रिणः ।
संप्राप्ता ज्ञानमतुलं वज्रमन्त्रप्रभावनैः[5] ॥ 193 ॥

---

1. परलोकार्थी- भो० ।
2. द्र०-कृ० य० तं० पं०, पृ० 94
3. कोष्ठगतोऽंशः संस्कृतमातृकायां नोपलभ्यते । गृहीतस्तु भोटानुसारी ।
4. 'बोधिचित्तं च देहि मे' नास्ति-भो० ।
5. अस्य श्लोकस्य स्थाने भोटानुवादे भिन्नं श्लोकद्वयं दृश्यते । तस्य संस्कृतेन प्रत्यनुवादो यथा—
अतीता ये तु सम्बुद्धा तथा ये चाप्यनागताः ।
वर्तमाने भवा नाथाः स्थिताः सत्त्वहिताय च ॥
ज्ञात्वा मन्त्रस्य तैः सर्वैरिदं सद्विधिमुत्तमम् ।
वीरैर्बोधिद्रुमस्याग्रेऽनिमित्तं बुद्ध आप्यते ॥

मन्त्रप्रयोगमतुलं येन भग्नं महाबलम् ।
मारसैन्यं महाघोरं शाक्यसिंहादिभिर्वरैः[1] ॥ 194 ॥

लोकानुवृत्तिमागम्य चक्रं प्रवर्त्य निर्वृताः[2] ।
तस्मान्मतिमिमां वत्स कुरु सर्वज्ञताप्तये ॥ 195 ॥

देशनादींस्त्रिधालाप्य बोधिचित्तं ततो गुरुः ।
उत्पादयेदनुत्पन्नमुत्पन्नं स्मारयेत्पुनः ॥ 196 ॥

सर्वकर्मकृतारक्ष्य ध्याया[3]द्धृत्कण्ठमूर्द्धसु ।
वज्रमब्जं तथा चक्रं हूँ आः ॐ तेषु विन्यसेत् ॥ 197 ॥

गन्धाम्बुवज्रसन्मुष्ट्या हूँ ॐ आः एवमापठन् ।
हृच्छिरःकण्ठमालभ्य दद्यात्पुष्पादिकं क्रमात् ॥ 198 ॥

पुष्पं मूर्ध्नि पुरो धूपं दीपं गन्धं पुनर्हृदि ।
दद्यात्सर्वकृताजस्रं शिष्येभ्यो यति[4]रादरात् ॥ 199 ॥

द्वादशाङ्गुलपुष्पाग्रमकीटापाटिताव्रणम्[5] ।
आश्वत्थोदुम्बरावक्रं प्रदद्याद्दन्तधावनम् ॥ 200 ॥

प्रागुदङ्मुखसंस्थैस्तैः खादयित्वैव[6] प्रक्षिपेत् ।
गोचर्ममात्रभू[7]लिप्ते सिद्धिं शान्त्यादिकां दिशेत् ॥ 201 ॥

आचम्य त्रिचलुपानं दत्त्वा बाह्ये निवेश्य च ।
कुशान् शय्योपधानाय बाहुः(हुं) सूत्रैः सुरक्षयेत् ॥ 202 ॥

---

1. शाक्यसिंहेन तायिना- भो० ।
2. 'लोका...निर्वृताः'-नास्ति- भो० ।
3. 'ध्यायात्'-नास्ति- भो० ।
4. 'यति'-नास्ति- भो० ।
5. 'अव्रणम्' नास्ति-भो० ।
6. खादयित्वा अनपे(वे)क्षया क्षिपेत्- भो० ।
7. 'भू' नास्ति-भो० ।

त्रिचलुपानमन्त्रः—ॐ ह्रीः विशुद्धधर्म सर्वपापानि चास्य शोधय सर्वविकल्पान-पनय[1] हूँ।

सर्वज्ञानां कदा लोके सम्भवो जायते न वा ।
उदुम्बरस्यै(स्ये)व कुसुमं कदाचित्कर्हिचिद् भवेत् ॥ 203 ॥

ततोऽपि दुर्लभोत्पादो मन्त्रचर्यानयस्य हि ।
येन सत्त्वार्थमतुलं कर्तुं शक्ता ह्यनिर्वृताः ॥ 204 ॥

अनेककल्पकोटिभिर्यत्कृतं पापकं पुरा ।
तत्सर्वं हि क्षयं याति दृष्ट्वा मण्डलमीदृशम् ॥ 205 ॥

किमुतानन्तयशसां मन्त्रंचर्यानये स्थितः ।
पदं ह्यनुत्तरं याति जपन्वै मन्त्र(न्त्रं) तायिनाम् ॥ 206 ॥

उच्छिन्ना दुर्गति[2]स्तेषां सर्वदुःखस्य सम्भवा ।
येषां चर्यावरे ह्यस्मिन्मतिरत्यन्तनिर्मला[3] ॥ 207 ॥

अद्य युष्माभिरतुला लाभा लब्धा महात्मभिः ।
येन यूयं जिनैः सर्वैः सपुत्रैरिह शासने ॥ 208 ॥

सर्वे परिगृहीताः स्थ जायमाना महात्मभिः ।
तेन यूयं महायाने श्वो या(जा)ता हि भविष्यथ ॥ 209 ॥

एष मार्गवरः श्रीमान् महायानमहोदयः ।
येन यूयं गमिष्यन्तो भविष्यथ तथागताः[4] ॥ 210 ॥

कृत्वार्थदेशनां रक्षां स्वापयेत् कुशसंस्तरे ।
यत्किञ्चित्पश्यथ स्वप्ने प्रातर्मे कथयिष्यथ ॥ 211 ॥

---

1. ०विकल्पमपनय- भो० ।
2. दुर्गतिसन्ततिः- भो० ।
3. ०निश्चला- भो० ।
4. 'येन...तथागताः' इत्यंशस्य स्थाने भोटानुवादे भिन्नः पाठो दृश्यते। तस्य संस्कृतेन प्रत्यनुवादो यथा—
   यूयमद्य महाभागाः प्रव्रज्यां श्रद्धया गताः ।
   [पुनश्च] सर्वलोकज्ञा भविष्यथ तथागताः ॥

रक्षाधिष्ठादिकं कृत्वा तज्जपेत् सार्वकर्मिकम् ।
पञ्चकुलत्रिचक्राणां कुण्डलि(ली)सार्वकर्मिकः ॥ 212 ॥

पृष्ट्वा शुभाशुभं स्वप्नं हत्वा कुण्डलिनाशुभम् ।
शिष्यान्संरक्ष्य तान् योग्यान्संवरं ग्राहयेत्ततः ॥ 213 ॥

चक्रेऽवैवर्त्यसंसेकं दत्त्वा नाथ वदस्व मे ।
चक्रदेवतयोस्तत्त्वमाचार्यपरिकर्म च ॥ 214 ॥

समयं सर्वबुद्धानां संवरं गुह्यमुत्तरम् ।
आचार्यः स्यामहं नित्यं सर्वसत्त्वार्थकारणात् ॥ 215 ॥

आचार्यतार्थिनः शिष्यान् ग्राहयित्वा तु संवरम् ।
योगमाधाय सच्चक्रं संपूज्य खे धिया न्यसेत् ॥ 216 ॥

शाश्वतादिस्वरूपाभं तद्वर्णबीजसंभवम् ।
पञ्चज्ञानान्वितं सूत्रं पञ्चविंशतिभेदितम् ॥ 217 ॥

यः(जः)[1] कारसूर्यचन्द्राक्षो मञ्जुवज्रात्मविग्रहः ।
दीप्तदृष्ट्यंकुशाकृष्टं स्ववर्णान्तर्निवेशितम् ॥ 218 ॥

वैरोचनादिहृज्ज्ञानसूत्रं सर्वकृता सह ।
प्रयच्छ शाश्वतसूत्रं स्वचक्रसूत्रणाय च ॥ 219 ॥

त्रितत्त्वगर्भितं चैव[2] यावदक्षोभ्यमर्थयन्[3] ।
अन्योन्यानुगताः[4] सर्वधर्मा इत्याद्यनुस्मरन् ॥ 220 ॥

चक्रद्विगुणतो दीर्घं द्वारविंशतिभागिकम् ।
पञ्चामृतसुगन्धेन तेमयित्वाथ रक्षितम् ॥ 221 ॥

---

1. जः- भो० ।
2. चैनान्- भो० ।
3. ०भ्यपर्यन्तम्- भो० ।
4. ०गत- भो० ।

त्र्यक्षरान्तर्गतं योगी वलयेत् सूत्रधारिणा ।
त्रिज्जःकारैस्तमाप्रेष्य ज्जः ज्जः ज्जः इत्यपि स्वयं पुनः[1] ॥ 222 ॥

वाममुष्टिग्रहो नाभौ प्रतीच्यवाग्दिशि स्थितः ।
खसूत्रं पातयेच्छ्रीमां[2]स्तथैवाधः प्रसूत्रयेत् ॥ 223 ॥

ॐ वज्रसमयसूत्रं मातिक्रम हूँ ।

सत्त्वार्थे भवतां कालो वियद्व्यापितथागतान् ।
चोदयेत्सूत्रध्वनिना तदिहागमनाय तु ॥ 224 ॥

यक्षप्रेतेन्द्रनागेशदिङ्मुखोऽग्न्यनिलाश्रितः ।
प्राक्प्रतीच्युत्तरावाक्चतुर्दिग्बहिः प्रसूत्र्य च ॥ 225 ॥

कोणसूत्रं समासूत्र्य चाग्नेयनैर्ऋतिस्थितः ।
प्राक्प्रतीच्युत्तरावाग्दिक्तथैवाष्टकमण्डलम्[3] ॥ 226 ॥

द्विगुणीकृत्य तत्सूत्रं चक्रमध्येषु धार्य च ।
चक्राकारं ततो बाह्यं वज्रसूत्रद्वयं पुनः ॥ 227 ॥

ऐशान्यां चक्रवाडं च स्वानुपूर्व्या प्रदक्षिणात् ।
सूत्रेण सूत्रयेत्प्राज्ञः सर्वदिक्समतां वहन् ॥ 228 ॥

अनिमित्तैरसिद्धिः स्यात् सूत्रच्छेदे गुरोः क्षयः ।
हीनातिरिक्ततो रोगा दिङ्मोहे शिष्यविभ्रमः ॥ 229 ॥

चतुरस्त्रं चतुर्द्वारं चतुस्तोरणभूषितम् ।
चतुःसूत्रसमायुक्तं पट्टस्रग्दामभूषितम् ॥ 230 ॥

कोणभागेषु सर्वेषु द्वारनिर्यूहसन्धिषु ।
खचितं वज्ररत्नैस्तु सूत्रयेद् बाह्यमण्डलम् ॥ 231 ॥

---

1. जपेत्- भो० ।
2. धीमान्- भो० ।
3. तथैव कृत्वाष्टकमण्डलम्- भो० ।

तस्याभ्यन्तरतश्चक्रमष्टमण्डलकोपमम् ।
अर्द्धेन बाह्यचक्रस्य समन्तात्परिमण्डलम् ॥ 232 ॥

चक्रस्तम्भाद्यरचितं वज्रावल्यावृतं शुभम् ।
विभजेच्च ततो द्वारं हीःकारक्रोधदृष्टितः ॥ 233 ॥

चक्राष्टभागिकं द्वारं वेदिकारहितं मतम् ।
द्वारप्रमाणा निर्यूहा देवतापट्टिकास्तथा ॥ 234 ॥

द्वारार्द्धा सर्वतो वेदी कपोलः पक्षकस्तथा ।
हारार्द्धहारचन्द्रार्कपट्टस्त्रग्दामपट्टिकाः[1] ॥ 235 ॥

रजोभूमिस्तदर्द्धेन मूलसूत्रं भुवो बहिः ।
चक्राद्यस्तम्भसूत्राणां भूमिस्तुल्या रजो भुवा ॥ 236 ॥

तोरणं त्रिगुणं द्वारात्पताकाघण्टयान्वितम्[2] ।
सद्घण्टामारुतोद्धूता पताका बाह्यकोणतः ॥ 237 ॥

चक्रानुरूपतोऽन्येषां यथाशोभं प्रकल्पना ।
संबुद्धज्ञानकायत्वाद्वाग्मी वज्रकुले स्मृतः ॥ 238 ॥

धर्मकायात्मसंशुद्धौ चित्तमण्डलमस्य तु ।
सत्त्वाशयं समासाद्य मानादिनियमः कृतः ॥ 239 ॥

प्रज्ञोपायोद्भवा सिद्धिर्जात्यादि[3]नियमेन किम् ।
तदेकहस्तमारभ्य यावद्धस्तसहस्रकम् ॥ 240 ॥

एवमासूत्र्य तच्चक्रं दीप्तदृष्ट्या रजांसि तु ।
प्राक्क्रमज्ञानसद्दी[4]प्त्या समुत्तेज्याभिमन्त्रयेत् ॥ 241 ॥

---

1. पट्टप्रमाणाः पट्टिकाः- भो० ।
2. ०मालयान्वितम्- भो० ।
3. ०मानादि०- भो० ।
4. 'सत्' नास्ति- भो० ।

ॐ वज्रचित्त(त्र)[1] समय हूँ।

धर्मधातुरयं शुद्धः सत्त्वधातुप्रमोचकः ।
स्वयं मञ्जुरवो राजा सर्वताथागतालयः ॥ 242 ॥

सर्वदोषविनिर्मुक्तश्चक्राभ्यन्तरसंस्थितः ।
ऐशानीं दिशमाश्रित्य[2] गुरुर्वामेन मुष्टिना ॥ 243 ॥

श्वेतं पीतं तथा रक्तं हरितं कृष्णमेव च ।
समप्रदक्षिणाच्छिन्नावक्रां रेखां[3] प्रपातयेत् ॥ 244 ॥

समां च पातयेद्रेखां द्वारविंशतिभागिकाम् ।
स्थूलपाते भवेद् व्याधिः कृशया धननाशनम् ॥ 245 ॥

विद्वेषो वक्रया मृत्युश्छिन्नया गुरुशिष्ययोः ।
अप्रदक्षिणपाते तु रजसां कीलनं भवेत् ॥ 246 ॥

श्वेतवज्रमयी सूची सौवर्णालम्बनापरा ।
पद्मरागमयी सूची तथा मरकतापरा ॥ 247 ॥

कृष्णाभ्यन्तरतो ज्ञेया एष रङ्गक्रमोऽस्य तु[4] ।
पूर्वेण तु महाश्वेतं दक्षिणे पीतसंयुतम् ॥ 248 ॥

लोहितं पश्चिमभागं माञ्जिष्ठोत्तरसंयुतम् ।
मध्यतो भूमिभागं तु इन्द्रनीलप्रभास्वरम् ॥ 249 ॥

प्रज्ञोपायात्मको नित्यं संलिखेत् सुसमाहितः ।
यवमात्रान्तरा रेखा पातनीया परस्परम् ॥ 250 ॥

कुण्डलामृतवज्रेण सर्वदुष्टान् प्रमर्दयन् ।
महामुद्रास्य दंष्ट्रोक्ता दुष्टशत्रुश्च मन्त्रराट् ॥ 251 ॥

---

1. ०चित्र- भो०।
2. आरभ्य- भो०।
3. रजां- भो०।
4. ०क्रमः स्मृतः- भो०।

नमः समन्तकायवाक्चित्तवज्राणाम्। नमो वज्रक्रोधाय महादंष्ट्रोत्कटभैरवाय असिमुषलपर्शुपाशहस्ताय। ॐ अमृतकुण्डलि ख-ख खाहि-खाहि तिष्ठ-तिष्ठ बन्ध-बन्ध हन-हन दह-दह गर्ज-गर्ज विस्फोटय-विस्फोटय सर्वविघ्नविनायकान् महागणपति-जीवितान्तकराय हूँ फट्।

एवं मण्डलमालिख्य चन्द्रसूर्यकृतासनम् ।
मध्ये खड्गं लिखेच्छ्यामं सुविशुद्धादिभास्वरम् ॥ 252 ॥

पूर्वेणाष्टारं सच्चक्रमादर्शादिसमुज्ज्वलम् ।
सव्ये रत्नं हरिताभं नवाङ्गं समतोन्नतम् ॥ 253 ॥

पश्चिमेऽष्टदलं पद्मं प्रत्यवेक्षादिरक्तकम् ।
उत्तरे तु सत् खड्गं कृत्यादिप्रतिमण्डितम् ॥ 254 ॥

उपायैर्नेत्रमाग्नेयां नैर्ऋत्यां वज्रमर्थनात्[1] ।
वायव्यां विकचास्यं तु बलात्पद्मं सकन्दकम् ॥ 255 ॥

ऐशान्यामुत्पलं ज्ञानात्[2] पीतं नीलाभ्रशोभनम् ।
अ(आ)ग्नेय्यादिचतुष्कोणे पूर्वद्वारद्विपार्श्वयोः ॥ 256 ॥

दर्पणं च तथा वीणां गन्धशंखरसायनम् ।
वस्त्रं धर्मोदयं(य)श्चैव दानशीलादिशोधितम्[3] ॥ 257 ॥

श्रद्धादिमुद्गरं दण्डं पद्मं वज्रं चतुर्थकम् ।
द्वारेषु सर्वथा[4] ज्ञात्वा स्फुटं ध्यात्वा स्वचक्रकम् ॥ 258 ॥

प्राग्वत्प्रज्ञाङ्गसंयोगाद्[5] बुद्धान् स्वान्तर्निवेश्य च ।
सच्चित्तेन वियद्व्याप्य चक्रपार्श्वकृतास्पदान् ॥ 259 ॥

---

1. प्रणिधानम्- भो०।
2. ज्ञानं- भो०।
3. शोभितम्- भो०।
4. विस्पष्टं कुन्दवत्- भो०।
5. प्रज्ञासंनिवेशात्- भो०।

तैः समायातविघ्नांस्तान्समुत्सार्याभिरक्ष्य च ।
यमार्यादिभिराकृष्यावेश्य बध्वा वशं नयेत् ॥ 260 ॥

चक्षुःकायाद्यधिष्ठायार्घाभिषेकाभिपूजनम् ।
कृत्वा स्तुत्वाथ संप्रीण्य जप्त्वा विभाव्य तोषयेत् ॥ 261 ॥

प्राग्वत् सत्पद्मभाण्डे तु कृत्वा ज्ञानामृतामृतम् ।
दिक्पालान् स्वस्वयोगस्थान् प्रपूज्य मण्डलं विशेत् ॥ 262 ॥

त्रैलोक्यविजयो भूत्वा यथाप्त्याभरणाम्बरः ।
कृतप्रदक्षिणश्चक्रं नत्वा होमेन पूर(ज)येत् ॥ 263 ॥

चतुरङ्गुलमात्यज्य तन्मानाब्जप्रफुल्लया ।
वेद्या हस्तार्द्धहस्ताधश्चक्रवत् सार्वकर्मिकम् ॥ 264 ॥

दैर्घादुच्छ्रयतः खड्गमष्टैकाङ्गुलमानकम् ।
कुण्डमध्ये लिखेच्चक्ररत्नाब्जखड्गमध्यगम् ॥ 265 ॥

बहिर्वेष्टितवज्रालीं योगी पूर्वमुखस्थितः ।
जप्त्वा सर्वकृता रक्ष्य वामेऽर्घाद्यन्यदन्यत्(तः) ॥ 266 ॥

न्यस्योपकरणं प्रोक्ष्य मञ्जुवज्रात्मयोगवान् ।
क्षीरवृक्षेन्धनादीप्तमग्निं त्र्यक्षररेचितम् ॥ 267 ॥

प्रज्वाल्य व्यजनाघातैः कुशान् दद्यात् प्रदक्षिणम् ।
आद्यजहत् स च (आद्यहृज्जं च रं) त्र्यस्त्राब्जस्थं
रुं(रं)बीजसम्भवम् ॥ 268 ॥

ध्यात्वा पीतं त्रिवक्त्रं तु पीनं प्रज्ञाङ्गसङ्गिनम् ।
कुण्डिकाभयदण्डाक्षमालाकरमिहानलम् ॥ 269 ॥

आवाह्य ज्ञानसद्वह्निं प्राग्वत् त्रितत्त्वटक्किना[1] ।
अभ्युक्षणादिकं तस्य कृत्वासननिवेशनम् ॥ 270 ॥

---

1. ०पाठेन- भो० ।

स्रुक्स्रुवे हस्तदण्डाधो वज्ररत्नैस्तदूर्ध्वतः ।
चतुरस्राङ्गुला पात्री द्व्यङ्गुलखातवज्रधा(ज्राधः) ॥ 271 ॥

चतुरङ्गुलवज्रान्तरन्ते पद्मदलाकृतिः ।
अन्तर्वज्राङ्गुलं खातं द्व्यङ्गुलाब्जदलं स्रुवम् ॥ 272 ॥

ध्यात्वा स्वदैवतं बीजं प्रदीप्तं स्रुक्स्रुवानने ।
दद्यात्पूर्णाहुतिं तस्मै रेफं विन्यस्य तन्मुखे ॥ 273 ॥

जुह्वीत समिधो धन्यः समिद्धेऽग्नौ[1] घृतं तिलान् ।
दूर्वाऽखण्डं तु दध्यन्नं कुशान् विधिक्रमादतः ॥ 274 ॥

तथताज्ञानसद्वह्नेर्हृच्चन्द्रे मं भवाधिपम् ।
सच्चक्रं जुहुयाद् ध्यात्वा बाह्यपूजादिपूर्वकम् ॥ 275 ॥

ॐ अग्नये स्वाहा। घृतस्य॥ ॐ सर्वपाप[2]दहनवज्राय सर्वपापं दह स्वाहा। तिलानाम्॥ ॐ वज्रायुषे[3] स्वाहा। दूर्वायाः॥ ॐ वज्रपुष्टये स्वाहा। अखण्डतण्डुलानाम्॥ ॐ सर्वसम्पदे स्वाहा। दध्यन्नस्य॥ ॐ अप्रतिहतवज्राय स्वाहा। कुशानाम्॥

पुष्टिशान्तिवशाकर्षे द्वेषोच्चाटाभिचारके ।
ॐ स्वाहा होः जः हूँ हूँ फट् मन्त्रान्ते चापि चोदना॥ 276 ॥

हृत्सत्त्वात् स्वाधिपात् सर्वाः प्रीण्यन्ते देवता इति ।
ध्यायंश्चन्द्रादिकैरन्यैर्द्रव्यैः संतर्प्य पूर्ववत् ॥ 277 ॥

हृच्चन्द्रचक्रसज्जिह्वमन्ते पूर्णाहुतिं तथा ।
अभ्युक्ष्याचमनार्घं दत्त्वा पूज्य स्तुत्वा[4] विसर्जयेत् ॥ 278 ॥

शेषं हव्यं स्वयोगात्मा वह्नौ हुत्वाथ तं तथा ।
विसर्ज्य प्राग्विधानेन चक्रमापूज्य संविशेत् ॥ 279 ॥

---

1. समिधग्नौ- भो०।
2. सर्वपापं- भो०।
3. सर्वायुषे- भो०।
4. 'स्तुत्वा' नास्ति- भो०।

शिष्यप्रवेशविधिना प्रविश्यादौ स्वयं कृती[1] ।
निष्पाद्य सेकपर्यन्तं[2] प्राप्यानुज्ञा(ज्ञां) कुलाधिपान् ॥ 280 ॥

महारागोद्भवं तत्त्वं चक्रं च प्रतिबिम्बवत् ।
पुरे शिष्यप्रवेशार्थं तत्त्वं[3] सत्यं च श्रावयेत्[4] ॥ 281 ॥

आकाशोत्पादचिह्नत्वादनादिनिधनः परः ।
महावज्रमयः सत्त्वो मञ्जुवज्राद्य सिद्ध मे[5] ॥ 282 ॥

सर्वोत्तममहासिद्धि[6]माहैश्वर्याधिदैवत ।
सर्ववज्रधरो राजा सिद्ध मे परमाक्षर ॥ 283 ॥

निर्दोषः शाश्वतश्चासि सर्वरागानुरागण ।
तत्त्वेन सिद्ध मे[7] भगवन् महारागो महारत ॥ 284 ॥

अत्यन्तशुद्धसर्वाग्र आदिमुक्तस्तथागतः ।
समन्तभद्र सर्वात्मा बोधिसत्त्व प्रसिद्ध मे ॥ 285 ॥

सर्वोत्तममहासिद्धिमाहैश्वर्याग्रमुद्रया ।
सिद्धवज्र महोत्कर्षाद् वज्रगर्वापते मम ॥ 286 ॥

सर्वसत्त्वमनोव्यापी सर्वसत्त्वहृदि स्थितः ।
सर्वसत्त्वपिता चैव कामोऽग्र्यः समयाग्रिणाम् ॥ 287 ॥

येन सत्येन सज्ज्ञानं प्रज्ञोपायात्ममण्डलम् ।
तेन सत्येन मे नाथ कामांस्त्वं परिपूरय ॥ 288 ॥

प्रतिबिम्बसमा धर्मा अच्छाः शुद्धा ह्यनाविलाः ।
अग्राह्या अनभिलाप्याश्च हेतुकर्मसमुद्भवाः ॥ 289 ॥

---

1. 'कृती' नास्ति- भो० ।
2. सेककर्मान्तम्- भो० ।
3. इदं तत्त्वं- भो० ।
4. कीर्तयेत्- भो० ।
5. 'मे' नास्ति- भो० ।
6. ०सिद्धे- भो० ।
7. 'मे' नास्ति- भो० ।

तथता तत्त्वनिर्याता[1] इति[2] सत्येन मण्डले ।
प्रतिबिम्बं स्फुटं शिष्याः सर्वे पश्यन्त्वकल्मषाः ॥ 290 ॥

सामान्यसंवरं शिष्यं प्राग्वत्कायादिभास्वरम् ।
जमनी(यवनि)कान्तरं[3] प्रोक्ष्य सर्वकृत् कलशांस्तथा ॥ 291 ॥

रक्ताम्बरं तदास्यं च पृच्छेत् कस्त्वमिति प्रिय ।
शिष्येणापि ततो वाच्यं[4] सुभगोऽहमिति प्रिय[5] ॥ 292 ॥

संपूज्य स्त्रक्करं द्वारि तथैवादत्तदक्षिणम्[6] ।
योगचित्तं समुत्पाद्य हृदि वज्रं[7] हृदा[8] न्यसेत् ॥ 293 ॥

मन्त्रः— ॐ सर्वयोगच्चित्तमुत्पादयामि सुरते समयस्त्वं होः सिध्य वज्र यथासुखम्। अद्य त्वं सर्वतथागताधिष्ठितो भविष्यसि। न च त्वयेदं सर्वतथागतपरमरहस्यममण्डलप्रविष्टाय वक्तव्यं न चाश्रद्धा[य दा]तव्यमिति वाच्यम्।

यमार्यादि स्वसन्मन्त्रैः समाकृष्य प्रवेशय च ।
पञ्चाक्षरैरथाप्येवं वाच्यं सत्[9]संवरग्रहे ॥ 294 ॥

अद्य त्वं सर्वतथागतकुले प्रविष्टः। तदहं ते वज्रज्ञानमुत्पादयामि येन ज्ञानेन त्वं सर्वतथागतसिद्धीरपि प्राप्यसि किमुतान्याः सिद्धीः। न च त्वयादृष्टमण्डलस्य पुरतो[10] वक्तव्यम्।

मा ते[11] समयो व्यथे(व्यर्थं गच्छे)दिति[12] तद्धृदि वज्रमास्थाप्य।
ॐ वज्रसत्त्व स्वयं तेऽद्य हृदये समवस्थितः ॥ 295 ॥

---

1. ०निर्जाता- भो०।
2. अनेन- भो०।
3. यवनिकान्तम्- भो०।
4. वचः- भो०।
5. वाच्यम्- भो०।
6. दत्तदक्षिणः- भो०।
7. हृद्वज्रं- भो०।
8. हृदि- भो०।
9. 'सत्' नास्ति- भो०।
10. अदृष्टमहामण्डलानाम्- भो०।
11. 'मा ते' नास्ति- भो०।
12. 'इति' नास्ति- भो०।

निर्भिद्य तत्क्षणं यायाद् यदि ब्रूयादिमं नयम् ।
पद्मस्थं त्र्यक्षरोज्वलं पाययेदमृतं पञ्च ॥ 296 ॥

इदं ते नारकं वारि समयातिक्रमाद् दहेत् ।
समयरक्षणात् सिद्धिः पिब वज्रामृतोदकम् ॥ 297 ॥

ॐ वज्रोदक ठः[1] ॥ दृढप्रतिज्ञमिदं वदेत्। अद्यप्रभृति तवाहं वज्रपाणिर्यदहं ब्रूयामिमं कुरु तत् त्वया कर्तव्यम्। न चाहमवमन्तव्यो मा ते विषमापरिहारेण कालक्रियां कृत्वा नरकपतनं स्यात्[2] ।

ब्रूयाद्ब्रूहि ततः शिष्यान्
सर्वतथागताश्चाधितिष्ठन्तां वज्रसत्त्वो मे आविशतु ।
वाचयित्वा च तद्धृदि ॥

वज्राङ्कं कोणमाहेन्द्रे हूँ ध्यायात् पीत लँ भवे[3] ।
वारुणं वँ भवं शुक्लं घटाङ्कं परिमण्डलम् ॥ 298 ॥

नीलध्वजाङ्कं धन्वाभं वायव्यं यँ भवं चलम् ।
काये वाचि तयोर्हः आः[4] पादाधो झैः समुज्वलम् ॥ 299 ॥

वायव्ये रँ भवं त्र्यस्त्रेणोद्दीप्य शिष्यमाविशेत् ।
आवेशय स्तोभय[5] ररर चालय २ हूँ हः आः झैः ॥ 300 ॥

जिह्वायां रक्तामाःकारं ध्यात्वाविष्टं पुनर्वदेत् ।
रागवज्रं तमाभुज्य ब्रूहि वज्र शुभाशुभम् ॥ 301 ॥

तमावेशं दृढीकुर्वन् तिष्ठ वज्रेति तं लपेत् ।
प्रक्षेपयेत् स्त्रजं चक्रे प्रतीच्छ वज्र होः वदेत् ॥ 302 ॥

---

1. ठ ठ ठ- भो०।
2. 'इति ब्रूयात्' इत्यधिकम्- भो०।
3. 'वज्राङ्कं...भवे' इत्यत्र भोटपाठो यथा—'मण्डले कोणमाहेन्द्रे वज्राङ्कं पीतवर्णकम्। लंभवं हूं ध्यायात्।'
4. 'ध्यायात्' इत्यधिकम्- भो०।
5. स्तंभय- भो०।

तां शिरसि बन्धयेत् प्रतिगृह्य त्वमिमं सत्त्वं महाबल।
चिह्नैः चिह्नसमीपे वा स्रक्[1]प्रपन्नाप्रपन्नयोः ॥ 303 ॥

पतेच्छ्रद्धयापि तद्योगं दद्याद्धव्यतयाथवा ।
सज्वालं प्रणवं नेत्रे ध्यात्वा[2] ॥

ॐ[3] वज्रसत्त्वः स्वयं[4] तेऽद्य चक्षूद्घाटनतत्परः ।
उद्घाटयति सर्वं यो वज्रचक्षुरनुत्तरम् ॥ 305 ॥
[5]चक्रं प्रदर्शयेत् ॥ 304 ॥

चक्राधिपं समारभ्य यावदमृतकुण्डलिम् ।
सेचयेदम्बुना मूर्ध्नि वज्राभिषिञ्चिवाग्ब्रुवन् ॥ 306 ॥

सेचयेन्मौलिना प्राग्वद्दत्त्वा चाधिपदैवतम् ।
हृदि संग्राह्य तद्वज्रं वज्रेणाप्यभिषेचयेत् ॥ 307 ॥

अद्याभिषिक्तस्त्वमसि बुद्धैर्वज्राभिषेकतः ।
इदं तत्सर्वबुद्धत्वं गृह्य वज्रं सुसिद्धये[6] ॥ 308 ॥

आलिङ्ग्य वज्रघण्टाभ्यां स्वाधिपात्[7]-

ॐ वज्राधिपति त्वामभिषिञ्चामि तिष्ठ वज्रसमयस्त्वम्। ॐ वज्रसत्त्व त्वामभिषिञ्चामि वज्रनामाभिषेकतः। हे अमुक वज्र!

मूर्ध्निनामतः ।

यद्यद् भाति स्वसर्वस्वं मुख्यं तन्मञ्जुराट् स्वयम् ।
धर्माः शुद्धाः प्रकृत्या यद् बुद्धज्ञानचयः[8] स हि ॥ 309 ॥

स्वस्यैव चक्रवर्तित्वे श्रीध्वनिर्नाम आदितः ।
सर्वे सर्वाधिपत्या तु वज्रान्तो हे नियोजिताः ॥ 310 ॥

---

1. 'स्रक्' नास्ति- भो०।
2. 'ततः' इत्यधिकम्- भो०।
3. 'ॐ' नास्ति- भो०।
4. 'स्वयम्' नास्ति- भो०।
5. इतः पूर्वं संस्कृतमातृकायां 'ध्यात्वा' इत्यधिकम्।
6. 'इदं [तत्] गृह्य वज्र त्वं सर्वबुद्धसुद्धिये'- भो०।
7. इतपरः भोटपाठे 'अभिषेकं दद्यात्' इत्यधिकम्।
8. 'चयः' नास्ति-- भो०।

अब्धातुशुद्धिरक्षोभ्या मकुटः समतात्मकः ।
वज्रं सत्प्रत्यवेक्षात्माधिपः कृत्यकरोऽर्थदः ॥ 311 ॥

ज्ञानं विद्यात्र वज्रं स्याद्धातुर्गोत्रं वशीह्य(कृ)तः ।
व्रतव्याकरणाश्वासा विद्यासेकेऽपि नाम्यमी ॥ 312 ॥

इदं तत्सर्वबुद्धत्वं वज्रसत्त्वकरे स्थितम् ।
त्वयापि हि सदा धार्यं वज्रपाणि[1] दृढव्रतम् ॥ 313 ॥

ॐ सर्वतथागतसिद्धिवज्रसमये[2] तिष्ठ एष त्वां धारयामि ह्रीः[3] हि हि हि हि हूँ।

सर्वान्वज्रव्रतं दत्त्वा वज्रं तत्त्वेन ग्राहयेत् ।
अनादिनिधनः सत्त्वो वज्रसत्त्वो महारतः ॥ 314 ॥

समन्तभद्रः सर्वात्मा वज्रगर्वापतिः पतिः ।
घण्टां तत्त्वेन संग्राह्य धर्मशब्देन वादयेत्[4] ॥ 315 ॥

इयं सा सर्वबुद्धानां प्रज्ञाघोषानुगा स्मृता ।
त्वयापि हि सदा धार्या बोधिरग्रा जिनैर्मता ।
तां[5] तद्धर्मेण वादयेत् ॥ 316 ॥

स्वभावशुद्धो हि भवः स्वभावैर्विभवीकृतः ।
स्वभावशुद्धैः सत्सत्त्वैः क्रियते परमो भवः ॥ 317 ॥

अधिष्ठाय महामुद्रां हृद्धिः सेवादिकीर्तितैः ।
समयैः कामरूपाद्यैर्जपेन्मन्त्रमव्यङ्गतः ॥ 318 ॥

स्वसंवेद्यस्वभावैस्तैः सर्वदिक्त्र्यध्वसंस्थितैः ।
स्वाधिदैवतयोगेन स्वं परांश्चैव पूजयेत् ॥ 319 ॥

---

1. वज्रसत्त्व- भो०।
2. समय- भो०।
3. 'ह्रीः' नास्ति- भो०।
4. संस्कृतमातृकायामयमन्तिमः पादो नोपलभ्यते। गृहीतस्तु भोटानुसारी।
5. 'ताम्' नास्ति- भो०।

दुष्करैर्नियमैस्तैर्यत्[1] सेव्यमानैर्न सिद्धयः ।
सिध्यन्तेऽन्तर्द्ध्यभिज्ञाखचारीवाक्चित्तकायजाः ॥ 320 ॥

तस्माद् बुद्धाश्च सत्सत्त्वा मन्त्रचर्याग्रचारिणः ।
प्राप्ता धर्माक्षरं श्रेष्ठं सर्वकामोपसेवनैः ॥ 321 ॥

सेवयन् कामगुणान् पञ्च सुखदुःखोभयात्मकान् ।
ज्ञानार्थी रागिणां योगात् साधयेत् सर्वमेव[2] हि ॥ 322 ॥

कायवाक्चित्तसंसिद्धेर्याश्चान्या हीनजाः स्मृताः ।
सिध्यन्ते मन्त्रजापात्तु कायवाक्चित्तभावनैः ॥ 323 ॥

यदुक्तम्[3]—

वज्रं तत्त्वेन संगृह्य घण्टां धर्मेण वाद्य च ।
समयेन महामुद्रामधिष्ठाय हृदा जपेत् ॥ 324 । इति ॥

तत्प्रत्युक्तम्—

गृहीत[4]संवरं शिष्यं तथैव[5] दत्तदक्षिणम् ।
याचयेदभिषेकाय प्रणाम्यैवं तु गाथया ॥ 325 ॥

बोधिवज्रेण बुद्धानां यथा दत्तो महामहः ।
ममापि त्राणनार्थाय खवज्राद्य[6] ददाहि मे ॥ 326 ॥

प्रवेशद्वारपीठस्थाष्टदलाब्जेष्टयोगिनम्[7] ।
सर्वदिक् त्र्यध्वखव्यापिबुद्धचक्रैः स्वहृद्भवैः ॥ 327 ॥

वाद्यगन्धाद्युपेतैस्तैः[8] प्राग्वद् विद्याभिषेकिणम् ।
महावज्राभिषेकेण सेचयेदिति गाथया ॥ 328 ॥

---

1. तीव्रैः- भो०; द्र०-गु० स० त०- 7.3
2. शीघ्रमेव- भो०।
3. 'यदुक्तं' 'तत्प्रत्युक्तम्' इत्ययमंशो भोटपाठे श्लोकार्धेन अनूदितः।
4. 'गृहीतम्' इति संस्कृतमातृकायाम्।
5. 'तथैवा०', इति संस्कृतमातृकायाम्।
6. 'अद्य' नास्ति- भो०।
7. स्वदेवता- भो०।
8. ०द्युपेतेति- भो०।

अभिषेकं महावज्रं त्रैधातुकनमस्कृतम् ।
ददामि सर्वबुद्धानां त्रिगुह्यालयसंभवम् ॥ 329 ॥

दत्त्वाविवर्त्यसंसेकं चक्रतत्त्वं तु दर्शयेत्[1] ।
चतुरस्रमवैषम्याद्बुद्धाबुद्धसमत्वतः ॥ 330 ॥

कायविच्चित्तधर्माणां नानैकत्वाद्ययोगतः ।
तत्स्मृतिस्तत्र या श्रद्धा प्राग्द्वारं बोधये मतम् ॥ 331 ॥

भूतभाविविपर्यासहान्यनुत्पत्तये ततः ।
अभूतोत्पन्नतथ्यस्य चोत्पत्तिस्थितये पुनः ॥ 332 ॥

अवाग्द्वारं चतुर्वीर्यच्छन्दोत्साहस्थितिर्मतिः ।
पश्चिमं ऋद्धिपादास्तु द्वारं तत् स्मृतिरत्र तु ॥ 333 ॥

श्रद्धावीर्यस्मृतिध्यानप्रज्ञेन्द्रियबलातुलम् ।
समाधिरुत्तरं चैवं चतुर्द्वारं स्मृतीन्द्रियैः ॥ 334 ॥

प्रथमादिचर्तुध्यानैश्चतुस्तोरणवद्भवेत् ।
शूरङ्गमखगञ्जादिसमाधिर्वेदिकाः स्मृताः ॥ 335 ॥

वेद्यां[2] पूजाकरव्यग्रग्रन्थादिधारिणीचयम् ।
यच्चित्राभरणं तस्मात् सर्वाशापरिपूरणम् ॥ 336 ॥

विनयोद्धूतसद्धर्मनवाङ्गरवसर्वगम् ।
मारुतोद्धूतविश्वाग्रपताकाघण्टानादितम् ॥ 337 ॥

ज्ञानेष्वादर्शबोध्यङ्गैः सर्वदिक्षु प्रभास्वरैः ।
हारार्द्धहारचन्द्रार्कादर्शस्त्रक्चामरोज्ज्वलम्[3] ॥ 338 ॥

चक्ररत्नादिसत्[4]स्तम्भैर्विमोक्षाष्टकशोधितैः ।
तस्याभ्यन्तरतश्चक्रमष्टमण्डलकोपमम् ॥ 339 ॥

---

1. दद्यात्- भो० ।
2. 'वेद्याम्' नास्ति- भो० ।
3. 'उज्ज्वलम्' नास्ति- भो० ।
4. 'सत्' नास्ति- भो० ।

सर्वदिक्त्र्यध्वसम्भूत[1] वज्रयानप्रवर्तनात् ।
वज्रसूत्रपरिक्षिप्तं समन्तात्परिमण्डलम् ॥ 340 ॥

रङ्गाणि पञ्चसंबुद्धास्तु ज्ञानैः सत्त्वरञ्जनात् ।
इन्द्रियार्थादिसंशुद्ध्या स्वलक्षणविवेकतः ॥ 341 ॥

प्रज्ञाज्ञानामृतं पीतं वज्रिणां कलशं तु तत् ।
सम्भारपूरिनिष्यन्दः पूर्णकुम्भः कृपार्द्रतः ॥ 342 ॥

पुष्पधूपमहादीपगन्धाख्यं यच्च मण्डले ।
बोध्यङ्गसुमनोह्लादिधर्मोल्कायशसां चयः ॥ 343 ॥

धर्माहारस्तु नैवेद्यं ह्रीरपत्राप्यमम्बरम् ।
सुगीतनृत्यवादित्रं महासुखविवर्द्धनम् ॥ 344 ॥

पुरं मोक्षपुरत्वाच्च मण्डलं सारसंग्रहात् ।
चक्रतत्त्वं समादर्श्य देवतातत्त्वमादिशेत् ॥ 345 ॥

श्रद्धावीर्यस्मृतिध्यानशुद्ध्या सद्द्वारिरूपकम् ।
कायादौ योगदृ(धृ)क्चित्तं प्रज्ञाशुद्ध्या सुनिर्मलम् ॥ 346 ॥

दानादिषट्बहिःशुद्ध्या रूपवज्रादिभावधृक् ।
भूपायाद्यनिमित्तत्वाल्लोचनादिस्वभावकम् ॥ 347 ॥

अर्थसत्त्वात्मसंकल्पप्रवृत्तिज्ञानशुद्धितः ।
आदर्शादिकं च ज्ञानं सर्वबुद्धस्वरूपकम् ॥ 348 ॥

ज्ञानानुत्पादयोगेन चक्रेशाकारभास्वरम् ।
रूपादिभ्रमसंशुद्ध्या स्कन्धायतनधातुकम् ॥ 349 ॥

मात्सर्यादिपरावृत्तैः परमाभूसु सुस्थिरम् ।
स्वविपक्ष[2]परावृत्त्या बलाद्यविकलामलम् ॥ 350 ॥

---

1. संबुद्ध- भो०।
2. ०विकल्प- भो०।

अविकल्पात्तु गाम्भीर्यमौदार्यं स्वपरोदयात् ।
गाम्भीर्यौदार्यतश्चैतः प्रज्ञोपायात्मकं मतम्[1] ॥ 351 ॥

प्रत्यात्मवेद्यधर्मत्वाद् भेदाभेदाद्यसंस्थितम् ।
एवं प्रपञ्चिते भान्ति फलाः पारमितादयः ॥ 352 ॥

समयाग्र्या ततो योगं रूपाब्दगुणयुक्तया ।
कृत्वाचार्योऽत्र संविश्य ज्ञानावेशं प्रकल्पयेत् ॥ 353 ॥

वज्रेण पद्ममास्फोट्य बुद्धान् स्वान्तर्निवेश्य च ।
स्थिरीकृत्य च पद्मस्थान् प्राप्यानुज्ञां कुलाधिपात् ॥ 354 ॥

स्वनामोच्चार्य वज्रात्मा स्फारयेच्चक्रयोगतः ।
वज्राब्जध्वनिभिर्बुद्धानानीय चक्रपार्श्वतः ॥ 355 ॥

विघ्नानुत्सार्य संरक्ष्य दत्त्वार्घं प्रतिपूज्य च ।
संस्तुत्य द्वारिभिर्द्वारकर्म कृत्वात्र[2] साधयेत् ॥ 356 ॥

चक्षुःकायाद्यधिष्ठानसेकपूजादिकल्पिते ।
विज्ञपयेत्सर्वसत्त्वार्थं कुरुध्वं सर्वसिद्धये ॥ 357 ॥

चक्रं संलिख्य सम्यक् प्राक्प्रतिष्ठायास्त्वयं विधिः ।
प्रतिमापुस्तकादीनां पौरुषान्तस्तु सेकतः ॥ 358 ॥

कलशार्घवितानादि रक्षाहोमादि यत्स्मृतम् ।
त्रिपञ्चाक्षर[3]सन्मन्त्रैर्मन्त्रैर्वा प्राक्समुद्धृतैः ॥ 359 ॥

कारयित्वा बहिःस्नानं चक्रवर्तीव तत्स्वयम् ।
उत्तमं तत्त्वमेतद्धि प्रज्ञोपायात्मकं तु यत् ॥ 360 ॥

जलमौली[4] तु निष्यन्दः पाको वज्राधिपाह्वकाः(कः)।
सम्बुद्धैः पौरुषः सेको वैमल्यो गुह्ययोगतः ॥ 361 ॥

---

1. च यत्- भो० ।
2. 'अत्र' नास्ति- भो० ।
3. मन्त्राक्षर- भो० ।
4. जलमाला- भो० ।

ततो रूपादिसम्पन्नां स्वभ्यस्तचक्रयोगिनीम् ।
समयसंवरस्थां तां चक्रे मुद्रामधिष्ठ्य च ॥ 362 ॥

मुनीन्द्रवृन्दं वज्रान्तः समावेश्य च सत्सुखम् ।
प्रपीड्यानामजेष्ठाभ्यां शिष्यवक्त्रे प्रपातयेत् ॥ 363 ॥

शिष्यो दृढमतिः सर्वं पिबेद्वैरोचनात्मना ।
स भवेद्विश्ववद् विश्वोऽत्रा(त्य)हो सुखेति वाग्ब्रुवन् ॥ 364 ॥

प्रज्ञासम्पर्कतः श्रीमान् तत्त्वं समुपलक्षयेत् ।
इयं ते धारणी रम्या सेव्या बुद्धैः प्रकल्पिता ॥ 365 ॥

चक्रक्रमप्रयोगेण समास्वादय सत्सुखम् ।
वज्रपर्यङ्कतश्चित्तं मण्यन्तर्गतमीक्षयन् ॥ 366 ॥

मण्डलं देवतातत्त्वमाचार्यपरिकर्म च ।
संकथ्य गुह्यप्रज्ञाभ्यां[1] सिक्त्वा तत्त्वं समुद्दिशेत् ॥ 367 ॥

यदाह—

न तथा बोधिचर्याद्यैरन्यै[2]र्वापि नयैः शुभैः ।
प्राप्यन्ते सर्वबुद्धाद्या यथाभिषेकादितो नयात् ॥ 368 ॥

समयं रक्षयेद्धर्तुः संवरं पालयेत्सदा ।
पञ्चमांसामृतां(तं) भक्ष्यं रक्षो(क्ष्यो)ऽन्यः समयोऽप्यतः ॥ 369 ॥

रत्नघ्नघातसर्वस्त्रीपरस्वादनं[3] वाङ्मृषा ।
एतद्धि विधिवद्रक्ष्यं योगतन्त्रे च यत्स्मृतम् ॥ 370 ॥

ततस्तथागतो भूत्वा व्याकुर्यादुद्ग(गी)तयानया ।
हृन्मुष्टिचीवरा वामा दक्षिणा तु वरप्रदा ॥ 371 ॥

ॐ एषोऽहं व्याकरोमि त्वां[4] वज्रसत्त्वस्तथागतः ।
भवदुर्गतितोद्धृत्यात्यन्तभवसिद्धये ॥ 372 ॥

---

1. प्रगुह्यवरप्रज्ञाभ्याम्- भो० ।
2. ०चर्यान्यैः- भो० ।
3. ०स्वादो न- भो० ।
4. 'त्वां'-नास्ति- भो० ।

हे वज्र नाम[1] तथागत सिद्धये[2] भूर्भुवः स्वः।

व्याक्रियते[3]ऽनया यस्तु[4] मन्त्री सर्वजगत्पतिः ।
बोधावनुत्तरायां हि व्याकुर्यात्सुगतैरपि ॥ 373 ॥

यथा यथा हि विनयं सत्त्वा यान्ति स्वभावतः ।
तथा तथा हि सत्त्वार्थं कुर्याद्रागादिभिः शुचिः ॥ 374 ॥

प्रतिदिनं चतुःसन्ध्यं समाधित्रययोगवान् ।
भूत्वा साधय[5] संसिद्धिं सामान्येतरभावनीम् ॥ 375 ॥

अन्तर्द्धिर्धातुसाहस्रे द्विसाहस्रेष्वभिज्ञकः ।
विद्याधरस्त्रिसाहस्रे वज्री सर्वजगत्पतिः ॥ 376 ॥

शान्तिपुष्ट्यादि यत्कर्म तदन्यद्वा यदीप्सितम् ।
चक्रानुरागयोगेन साधयन् सिध्यते लघु ॥ 377 ॥

तदुक्तम्— वज्राधिपतयः सर्वे रागतत्त्वार्थचिन्तकाः ।
कुर्वन्ति रागजां बोधिं सर्वसत्त्वहितैषिणीम् ॥ 378 ॥

अतो बोध्यर्थिको मन्त्री[6] कायवाक्चित्तचेष्टितम् ।
कर्म कुर्याद्विधानेन सर्वं तद्बोधये मतम्[7] ॥ 379 ॥

यथा प्रविष्टशिष्येभ्योऽनुशंसार्थिभ्य इत्यपि ।
समाश्वासं त्रिसमयमतो[8] दद्याद्विधानतः ॥ 380 ॥

दृष्ट्वा प्रविष्ट्वा[9] परमं रहस्योत्तममण्डलम् ।
सर्वपापैर्विनिर्मुक्ता भवन्तोऽद्यैव सुस्थिताः[10] ॥ 381 ॥

---

1. वज्र अमुक नाम- भो०।
2. सिद्धि- भो०।
3. अभिषिच्यते- भो०।
4. 'यस्तु' नास्ति- भो०।
5. साधयेत्- भो०।
6. 'मन्त्री' नास्ति- भो०।
7. सर्वं बोधिकामतः- भो०।
8. त्रिसमयं यतः- भो०।
9. 'इदम्' इत्यधिकम्- भो०।
10. ०तत्त्वसुस्थिताः- भो०।

न भूयो मरणं वोऽस्ति यानादस्मान्महासुखात् ।
अधृष्याश्चाप्यबद्धा(ध्या)[1]श्च रमध्वमकुतोभयाः ॥ 382 ॥

निवृतं भवदुःखं वोऽत्यन्तभवशुद्धये ।
संभूताः शासिनामग्रा अत्यन्तभवसिद्धये ॥ 383 ॥

अयं वः सततं रक्षः(क्ष्यः) सिद्धः समयसंवरः ।
सर्वबुद्धैः समं प्रोक्ताज्ञा परमशाश्वती ॥ 384 ॥

बोधिचित्तं न वै त्याज्यं यद्वज्रमिति मुद्रया ।
यस्योत्पादनमात्रेण बुद्ध एव न संशयः ॥ 385 ॥

सद्धर्मो न प्रतिक्षेप्यो न च त्याज्यः कदाचन ।
अज्ञानाद्वाथ मोहाद्वा न वै विवृणुयात् स तु[2] ॥ 386 ॥

स्वमात्मानं परित्याज्य तपोभिर्न च पीडयेत् ।
यथासुखं सुखं धार्यः संबुद्धोऽयमनागतः ॥ 387 ॥

वज्रं घण्टा च मुद्रा च न वै त्याज्या कदाचन ।
आचार्यो नावमन्तव्यः[3] सर्वबुद्धसमो ह्यसौ ॥ 388 ॥

यो चावमन्येताचार्यं सर्वबुद्धसमं गुरुम् ।
सर्वबुद्धापमानेन स नित्यं दुःखमाप्नुयात् ॥ 389 ॥

ज्वरैर्गैर्विषै रोगैर्डाकिन्युपद्रवैर्ग्रहैः ।
विघ्नैर्विनायकैर्घोरैर्मारितो[4] नरकं व्रजेत् ॥ 390 ॥

तस्मात् सर्वप्रयत्नेन वज्राचार्यं महागुरुम्[5] ।
प्रच्छन्नवरकल्याणं नावमन्येत् कदाचन ॥ 391 ॥

अनुरूपं च ते देयं गुरुभक्तं[6] सदक्षिणम् ।
ततो ज्वरादयस्तापा न भूयः प्रभवन्ति हि ॥ 392 ॥

---

1. अवध्याः- भो० ।
2. वर्ण्यो महानयः- भो० ।
3. न त्याज्यः- भो० ।
4. 'सत्त्वः' इत्यधिकम्- भो० ।
5. महामतिम्- भो० ।
6. गुरुभक्त्या- भो० ।

नित्यं स्वसमयः साध्यो[1] नित्यं पूज्यास्तथागताः ।
नित्यं च गुरवे देयं सर्वबुद्धसमो ह्यसौ ॥ 393 ॥

तद् दानात् पुण्यसंभारः सम्भाराद्बोधिरुत्तमा ।
दत्तेऽस्मै सर्वबुद्धेभ्यो दत्तं भवति शाश्वतम् ॥ 394 ॥[2]

अद्य वः सफलं जन्म यदस्मिन् सुप्रतिष्ठिताः ।
समाः समयदेवानां भवितास्थ न संशयः ॥ 395 ॥

अद्याभिषिक्ता आयुष्मन्तः सर्वबुद्धैः सवज्रिभिः ।
त्रैधातुकमहाराज्यं(जाः) राजाधिपतयः स्थिराः ॥ 396 ॥

अद्य मारान् विनिर्जित्य प्रविष्टाः परमं पुरम् ।
प्राप्तमद्यैव बुद्धत्वं भवद्भिर्नात्र संशयः ॥ 397 ॥

इति कुरुत मनः प्रसादवज्रं
स्वसमयमक्षयसौख्यदं भजध्वम् ।
जगति लघुसुखेऽद्य वज्रसत्त्व-
प्रतिसमशाश्वततां गता भवन्तः ॥ 398 ॥

प्रणिपत्य गुरोः पादौ शिष्याः सद्भक्तिवत्सलाः ।
ब्रूयुरेवं करिष्यामो यथाज्ञापयसे विभो ॥ 399 ॥

सत्येव संभवे तेषां प्रत्येकं वामपाणिना ।
सव्याङ्गुष्ठकमागृह्य शान्तिं कुर्याद् विधानतः ॥ 400 ॥

त्रिसप्ताहुतिमेकां वा राज्ञो वा भूपतेरथ ।
दिक्पालस्वात्मशान्तौ च हुत्वा याचेत्(त) दक्षिणाम् ॥ 401 ॥

सर्वसत्त्वार्थकर्तव्ये श्रुतादौ वा प्रति प्रति ।
भूगजादि[3] सुवर्णादौ स्वसिद्धौ वा सहायताम् ॥ 402 ॥

---

1. रक्ष्यः- भो० ।
2. द्र०-गुरुपञ्चाशिका- श्लो० 10-21
3. भूराज्यादि- भो० ।

संगृह्य यत्तदुत्सृष्टं संतोष्य दत्तदक्षिणान् ।
सर्वाहारविहारैस्तैः[1] स्वपरैश्चक्रमर्चयेत् ॥ 403 ॥

संगृह्य योग्यसच्छिष्यान् विचित्रपरमायुभिः ।
सन्तर्प्य चोपसंहृत्य मुःकारान्तैश्च त्र्यक्षरैः ॥ 404 ॥

अकारेत्यादि मन्त्रेण शून्यवच्चक्रमुत्तमम् ।
दत्त्वार्थिने रजः स्तोकं महत्तोये रजः सृजेत् ॥ 405 ॥

गर्त्तापूरे प्रतिष्ठायां होमे चक्रे च यद्धनम् ।
आचार्यस्यैव तत्सर्वमित्याह वरवज्रधृक् ॥ 406 ॥

इत्यादिकर्मिकस्यायमुक्तश्चक्रविधिः स्फुटः ।
ज्ञानावेशसुलब्धः सत्त्वावेशेनैव कथ्यते ॥ 407 ॥

द्वादशाब्दे समावेश्य संपूज्य बालबालिके ।
ताभ्यां यद्रचयेच्चक्रं चित्तवाक्कायिकं मतम्[2] ॥ 408 ॥

चित्ते त्वक्षोभ्यमामक्योरादे(वे)शः समुदाहृतः ।
पाण्डरामितयोर्वाचि काये श[ा]श्वतलोचने ॥ 409 ॥

चित्तवाक्कायसंस्तोभाद्रचना त्वियमद्भुता ।
चित्तस्तोभात् परिज्ञानं वाक्स्तोभान्मन्त्रभाषणम् ॥ 410 ॥

कायस्तोभाच्च खे स्थानं स्तोभावेशे विधिस्त्वयम् ।
आचार्यशिष्यसेकोऽत्र प्राङ्न्यायेनैव संस्थितः ॥ 411 ॥

प्राप्तज्ञानवशी कुर्याच्चेतसैव त्रिचक्रकम् ।
तदधिष्ठानतश्चक्रं दृश्यते स्वपरैर्यतः[3] ॥ 412 ॥

प्रवेशोऽत्राभ्यनुज्ञातः स्पष्टस्वप्नवदिष्यते[4] ।
यतस्तेनोत्तमो ज्ञेयश्चित्तम(वृ)त्तिदृढत्वतः ॥ 413 ॥

---

1. 'तैः' नास्ति- भो० ।
2. 'चित्त...मतम्' नास्ति- भो० ।
3. शुद्धस्वरूपे- भो० ।
4. दृश्यते- भो० ।

त्रियोगिनामपि प्राग्वद् विधिर्वाक्कायचक्रयोः ।
तत्स्थानेऽक्षोभ्यचिह्नं स्याद्वाक्कायगुह्यशुद्धये ॥ 414 ॥

ज्ञानादिकर्मिसंलेशिसंप्राप्तवशिनामपि ।
चेतसैव विधिः सर्वस्तद्धीनो नैव सिध्यति ॥ 415 ॥

वज्राचार्याग्रशिष्याणां निष्यन्दादिरतात्मनाम् ।
मनसोक्तो विधिः श्रेष्ठो वाङ्मात्रेणात्र किं भवेत् ॥ 416 ॥

वृत्तमात्रान्न बुद्धत्वं श्रुतमात्राच्च नो भवेत् ।
चिन्तयापि न[1] यावच्च भावनातो निरुध्यते ॥ 417 ॥

यदाह—

अलं बहुविसर्पिण्या कथया मन्त्रवादिनाम् ।
चेतः साध्यं विशेषेण चित्तात् संबोधिसम्भवः ॥ 418 ॥

यदुक्तम्—

यत्फलं बोधिचित्तं तद्बुद्धज्ञानमनुत्तरम् ।
वज्रसत्त्वमयं तस्य धर्मसंभोगनिर्मितम् ॥ 419 ॥ इति ।

प्राकृतकल्पनाऽवृत्तेर्नान्यद् दुःखं भवात्मकम् ।
साक्षादस्य विरोध्येवं[2] प्रज्ञोपायात्म[3][कं मनः] ॥ 420 ॥

[आचार्यदीपङ्करभद्ररचितो गुह्यसमाजमण्डलविधिः समाप्तः]



1. 'न' नास्ति- भो० ।
2. निरोधि- भो० ।
3. संस्कृतमातृकाया अन्तिमं पत्रं नोपलभ्यते, भोटानुसारेण अधिकैः षोडशश्लोकैः ग्रन्थोऽयं सम्पूर्णतामेति ।

आर्यमारीची-नाम-धारणी

ĀRYAMĀRĪCĪ-NĀMA-DHĀRAṆĪ

आदर्श प्रति

धारण्यादिसंग्रह

राष्ट्रीय अभिलेखालय काठमाण्डू, नेपाल।

सं०	-	3/589
पत्र संख्या	-	148a–148b
लिपि	-	देवनागरी
भो०	-	འཕགས་མ་འོད་ཟེར་ཅན་ཞེས་བྱ་བའི་གཟུངས། (तो० 564)

आर्यमारीची-नाम-धारणी

ॐ नमो भगवत्यै आर्यमारीचीदेवतायै[1]।

एवं मया श्रुतमेकस्मिन् समये भगवान् श्रावस्त्यां विहरति स्म। जेतवने अनाथपिण्डदस्यारामे महता भिक्षुसङ्घेन सार्द्धत्रयोदशभिक्षुशतैः सम्बहुलैश्च महाश्रावक[2]बोधिसत्त्वमहासत्त्वैः। तत्र खलु भगवान् भिक्षूनामन्त्रयते स्म। अस्ति भिक्षवो मारीची नाम देवता सा सूर्यचन्द्रमसोः पुरतोऽनूपगच्छति। सा न दृश्यते, न गृह्यते, न बध्यते, न निरुध्यते[3], न विरुध्यते, न मुष्यते[4], न मुह्यते, न दण्ड्यते, न मुण्ड्यते, [5]न दह्यते, न शत्रोरनूपगच्छति। योऽपि तस्य भिक्षवो मारीचीनामदेवताया नाम जानाति सोऽपि न दृश्यते न गृह्यते न बध्यते न निरुध्यते[6], न विरुध्यते न मुष्यते[7] न मुह्यते न दण्ड्यते न मुण्ड्यते [8]न दह्यते न शत्रोरनूपगच्छति। सोऽहं भिक्षवो मारीचीनामदेवताया नाम जानामि। अहमपि (अयमपि) न दृश्यते न बध्यते न निरुध्यते न विरुध्यते[9] न मुह्यते न दण्ड्यते न मुण्ड्यते [10]न दह्यते न शत्रोरनूपगच्छति। इमानि मन्त्रपदानि भवन्ति। तद्यथा—ॐ पदाक्रमसि पराक्रमसि उदयमसि नैरमसि[11] अर्कमसि मर्कमसि उर्म्मसि वनमसि गुल्ममसि चीवरमसि महाचीवरमसि अन्तर्धानमसि स्वाहा।

ॐ मारीचीदेवते पथे मां गोपय। उत्पथे मां गोपय। पुरुषभयतो मां गोपय[12]। राजभयतो मां गोपय। हस्तिभयतो मां गोपय। चौरभयतो मां गोपय। नागभयतो मां गोपय[13]। सिंहभयतो मां गोपय। व्याघ्रभयतो मां गोपय। अश्वभयतो मां गोपय[14]।

---

1. नमो सर्वबुद्धबोधिसत्त्वेभ्यः - भो०।
2. 'महाश्रावक' - नास्ति भो०।
3. 'न निरुध्यते' - संस्कृतपाठे नास्ति।
4. 'न मुष्यते' - भोटपाठे नास्ति।
5. 'न द्रव्यते' - भो० अधिकपाठः।
6. 'न निरुध्यते' - संस्कृतपाठे नास्ति।
7. 'न मुष्यते - भोटपाठे नास्ति।
8. 'न द्रव्यते' - भोटपाठे अधिकः।
9. 'न मुष्यते' - संस्कृतपाठे, गृहीतस्तु भोटानुसारी।
10. 'न द्रव्यते' - भोटपाठे अधिकः।
11. वैरमसि - संस्कृतपाठे, गृहीतस्तु भोटानुसारी।
12. 'पुरुषभयतो मां गोपय' - संस्कृतपाठे नास्ति।
13. 'नागभयतो मां गोपय' - संस्कृतपाठे नास्ति।
14. 'अश्वभयतो मां गोपय' - भोटपाठे नास्ति।

अग्निभयतो मां गोपय। उदकभयतो मां गोपय। सर्पभयतो मां गोपय[1]। विषभयतो मां गोपय[2]। सर्वप्रत्यर्थिकप्रत्यमित्रभयतो मां गोपय। आकुलेषु मां गोपय। अनाकुलेषु मां गोपय। मूर्च्छितेषु मां गोपय। अमूर्च्छितेषु मां गोपय। नागतो मे रक्ष। चण्डमृगतो मे रक्ष। रक्ष-2 मम सर्वसत्त्वानां च सर्वदुष्टप्रदुष्टेभ्यः[3]। तद्यथा—नमो रत्नत्रयाय[4] ॐ आलो तालो कालो सच्छलो सत्त्वमुद्रति[5] रक्ष रक्ष मां सपरिवारस्य[6] सर्वसत्त्वानां च सर्वभयोपद्रवेभ्यः स्वाहा।

नमो रत्नत्रयाय। नमो भगवत्यै आर्यमारीचीदेवतायै। तस्या हृदयमावर्त्तयिष्यामि। तद्यथा—ॐ वत्ताली वदाली वराली वराहमुखी। सर्वदुष्टप्रदुष्टानां चक्षुर्मुखं बन्ध बन्ध। [7]बन्ध मुखं जम्भय स्तम्भय मोहय स्वाहा। ॐ मारीच्यै स्वाहा। ॐ वराली वदाली वत्ताली वराहमुखी सर्वदुष्टप्रदुष्टानां चक्षुर्मुखं बन्ध बन्ध[8] जम्भय जम्भय स्तम्भय स्तम्भय मोहय मोहय भञ्जय भञ्जय तर्जय तर्जय ह्रीं ह्रीं हूँ हूँ फट्[9] स्वाहा। ॐ मारीच्यै सर सर मुह्य मुह्य विमुह्य विमुह्य अपक्राम्य अपक्राम्य सर्वदुष्टसत्त्वान् पथे उत्पथे सर्वविघ्नविनायका अपसरन्तु मा तिष्ठन्तु त्रिरत्नसत्येन स्वाहा। ॐ चण्ड परमचण्ड स्वाहा। ॐ अगलि पगलि पञ्चगलि सर्वदुष्टप्रदुष्टानां कायवाक्चित्तं मुखं चक्षुषि बन्ध बन्ध हूँ हूँ हूँ फट् फट् फट् स्वाहा।

इदमवोचद्भगवानात्तमनास्ते च भिक्षवस्ते च बोधिसत्त्वाः सा च सर्वावती पर्षत् सदेवमानुषासुरगरुडगन्धर्वश्च लोको भगवतो भाषितमभ्यनन्दन्निति।

॥ आर्यमारीची नाम धारणी समाप्ता ॥



---

1. 'सर्प......गोपय' - संस्कृतपाठे नास्ति।
2. 'विष.....गोपय' - संस्कृतपाठे नास्ति।
3. ''आकुलेषु......प्रदुष्टेभ्यः'' इत्यस्य स्थाने ''आकुलेष्वनाकुलेषु सर्वोपहतानुपहतेभ्यो मां सिंहतो रक्ष व्याघ्रतो मां रक्ष नागतो मां रक्ष सर्पतो मां रक्ष। मां सर्वभयदुष्टोपसर्गाकुलेषु रक्ष रक्ष''-भो०।
4. नमो रत्नत्रयाय - गृहीतस्तु भोटानुसारी।
5. सममूर्धिति-भो०।
6. 'सपरिवारस्य'-भो० नास्ति।
7. 'कायवाक्चित्तं' - संस्कृतपाठे अधिकं वर्तते।
8. जम्भ जम्भ स्तम्भ स्तम्भ हुँ हुँ स्वाहा - संस्कृतपाठे।
9. ''जम्भय.......फट् फट् फट्'' नास्ति भो०।

ABSTRACTS OF ARTICLES

Stotras *1-4*

The first two stotras, reproduced in this issue, are from the 23rd *Pariccheda* of the Lalitavistara. In these stotras, the Tathāgata is praised by the sons of the Ābhāsvara and the Brahmakāyika gods. The third stotra is from the Samādhirājasūtra (Darbhanga edition, Appendix-1). According to the editor, this stotra is found in two of the MSS at the beginning of the text and is therefore reproduced accordingly.

Bhūtaḍāmaratantra : A Brief Introduction *5-18*

In the previous issue of Dhīḥ, the first part of this article, introducing the contents of the Bhūtaḍāmara Tantra Paṭalas I-IV, was published. The second part of the article, introducing the contents of the remaining Paṭalas, is being published here.

Understanding the Concept— "the Buddhahood in this Very Life" *19-26*

According to the Buddhist tradition, the highest goal of human life is the attainment of the Buddhahood or Nirvāṇa. According to the way of Pāramitā, it takes innumerable *kalpas* to attain this goal. On the other hand, according to the Buddhist Tantras, the Buddhahood can be attained in a single life-time. The present paper reviews the concept of 'the single life-time'. The paper explains that, according to the Buddhist Tantras, the concept of 'the single life-time' points to the human life and not to the other destinies such as that of gods etc. It also includes the notion that the beings can attain the Buddhahood within a span of one life-time to seven or sixteen lives. The duration of time depends upon the category of beings- those of week faculties, of middling faculties and of keen faculties.

Paramakṣetradvārodghāṭana-nāmaka-sukhāvatī-kṣetra-janmagrahaṇa-praṇidhāna *27-36*

"The Concise Praṇidhāna" of Acharya Tsoṅkhāpa is a part of his elaborate treatise "Bde-ba can du skye ba hdsin pahi smon-lam shiṅ mchog sgo hbyed". The work describes the Sattvaloka and the Bhājanaloka of the Sukhāvatī, the abode of Amitābha Buddha and his characteristic qualities beyond one's imagination. It describes in detail the thirty-four Praṇidhānas, instrumental in one's birth in that Pure Land through the firm faith in those qualities. The present article includes an edition of the text of Praṇidhāna, with its translation and a brief introduction.

बौद्धतन्त्र विषयक पाठ समीक्षात्मक टिप्पणियाँ *37-44*

प्रस्तुत निबन्ध में बौद्धतन्त्र ग्रन्थों के कुछ अंशों के पाठगत समस्याओं की चर्चा की गयी है : हेवज्रतन्त्र 2.3.54, गुह्यसमाजतन्त्र के चौदहवें पटल में प्राप्त अचल का मालामन्त्र (मात्सुनागा संस्करण, पृ० 65) और सेकोद्देशटीका का मंगलाचरण। इनके पाण्डुलिपियों में प्राप्त तथा सम्पादित संस्करणों में स्वीकृत पाठों का भोटानुवाद से यथासम्भव तुलनात्मक अध्ययन कर अधिक उपयुक्त एवं विश्वसनीय पाठ प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

Praṇava in the Prapañcasāra Tantra *45-58*

The Prapañcasāra Tantra is ascribed to Ācārya Śaṅkara who was a devout practitioner of Śrīvidyā and a great Siddha. The nineteenth chapter of this work deals with the praṇava mantra, its *japa, upāsanā,* the way of its worship and fruit. *Praṇava* is *oṁkāra*, consisting of the three letters, *a, u* and *m* and is the best name of God. Being the foremost of the Vedas, it is uttered in the beginning of on the Vedic mantras. It is the origin or the cause of everything, the Brahman. The *japa*, or worship of *praṇava* brings various *siddhis* to the practitioner. These *siddhis* called as 'the eight aiśvaryas' are : aṇimā, laghimā, mahimā, garimā, prāpti, prākāmya, vaśitva and īśitva. Having attained these *siddhis*, the practitioner attains the state of *jīvanmukta*

and, while experiencing the bliss, continues to live in the saṁsāra, until the end of the *prārabdha karma.* After that, casting away the corporal body, attains the divine abode of Viṣṇu.

Sources of Rare Buddhist Texts *59-82*

Under this title, in the previous issue of Dhīḥ, notices of 84 important manuscripts were given. This issue includes the information about 94 other manuscripts.

Various Forms of the Five Protection Deities *83-94*

The present article describes the various forms etc. of the Five Protection Deities : Mahāpratisarā, Mahāmāyūrī, Mahāsahasrapramardinī, Mahāśītavatī and Mahāmantrānusāriṇī. The recitation of the Dhāraṇī-mantras of these deities frees one from various diseases, dangers and evil spirits and yields wealth and prosperity.

Dīkṣā : Initiation in Buddhist and Non-Buddhist Systems *95-98*

The previous issues of Dhīḥ have articles on the following topics : The Vaidika Dīkṣā (*upanayana*), the Jaina and the Buddhist, the Vaiṣṇava, the Śaiva, the Śākta and the Saura Dīkṣā. The present article is a brief introduction to the Gāṇapatya Dīkṣā in the tradition of the Vaidika Dīkṣā.

General and Concise Arrangement of Tantra *99-108*

A Hindi translation of Ācārya Bu-ston's work "A General and Concise Presentation of Tantra : A Key Opening the Door of the Treasure of Jewels" is being published in this journal in a series of articles. The present part deals with the explanation of the meanings of the Anuttarayoga Tantra with its four subdivisions. This part is a translation of the sub-title : The three divisions of Tantras : Prajñātantra, Upāyatantra and Advayatantra, from the point of view of *neyārtha* and the explanation of Advayatantra from the point of view of *nītārtha.*

Śrīguhyasamājamaṇḍalavidhi *109-154*

Śrīguhyasamājamaṇḍalavidhi of Ācārya Dīpaṅkarabhadra is a treatise composed in elegant and lucid Sanskrit. A copy of a MS of this work had become available to us. The last folio of the MS is missing. From its Tibetan translation, it appears that the last 16 verses are missing in the MS. Realizing its importance, we are publishing here a critically edited Sanskrit text compared with its Tibetan translation. A complete Sanskrit text with the restoration of the missing portion will be published in due course along with its Tibetan translation.

Ārya-Mārīcī-Nāma-Dhāraṇī *155-158*

A number of copies of this Dhāraṇī are available among the collections of Dhāraṇīs from Nepal. This Dhāraṇī, composed in a Sūtra style, is from the *Dhāraṇyādisaṁgraha* (No. 3/589). It is being published here edited with the help of its Tibetan translation.

•

ཕྱོགས་ཀྱི་ངོ་སྤྲོད་མདོར་བསྡུས།

དེ་བཞིན་གཤེགས་པའི་བསྟོད་པ་ཁག་གསུམ། ༡ - ༨

དུས་རབས་འདོན་ཐེངས་འདིའི་ནང་གི་བསྟོད་པ་སྔ་མ་གཉིས་ནི། མདོ་རྒྱ་ཆེར་རོལ་པའི་ལེའུ་ཉེར་གསུམ་པ་མངོན་པར་བསྟོད་པའི་ལེའུའི་ནང་གསལ་བའི་འོད་གསལ་གྱི་ལྷའི་བུ་རྣམས་དང་། ལྷའི་བུ་རབ་ཚངས་པ་ལ་སོགས་པ་ཚངས་རིས་ཀྱི་ལྷའི་བུ་རྣམས་ཀྱིས་དེ་བཞིན་གཤེགས་པ་ལ་བསྟོད་པ་མཛད་ཡོད་པ་དེ་དག་དེ་བཞིན་གཤེགས་པའི་བསྟོད་པ་ཞེས་པའི་འགོ་བརྗོད་འོག་བཀོད་ཡོད། བསྟོད་པ་གསུམ་པ་ཟླ་བ་སྒྲོན་མེའི་མདོའི་བསྟོད་པ་དེ་ནི། ཧིང་དེ་འཛིན་རྒྱལ་པོའི་མདོ་དར་ཟླའི་དཔེ་སྐྲུན་ཁང་ནས་དཔར་བསྐྲུན་ཞུས་པ་དེའི་ལྷན་ཐབས་དང་པོ་ལས་བླངས་པ་ཞིག་ཡིན། ཞུས་སྒྲིག་པའི་བཞེད་པ་ལྟར་ན་མདོ་དེའི་རྩ་བའི་མ་དཔེ་ཁག་གཉིས་ཀྱི་ནང་བསྟོད་པ་འདི་མདོའི་དབུར་བཀོད་ཡོད་པའི་རྐྱེན་གྱིས་བསྟོད་པ་འདི་གཞུང་གི་ཐོག་མར་བཞག་ཡོད།

འབྱུང་པོ་འདུལ་བ་ཞེས་བྱ་བའི་རྒྱུད་ཀྱི་ངོ་སྤྲོད་མདོར་བསྡུས། ༤ - ༡༥

༄༅ཿདུས་རབས་སྔ་མའི་ནང་འགོ་བརྗོད་འདིའི་འོག་འབྱུང་པོ་འདུལ་བ་ཞེས་བྱ་བའི་རྒྱུད་ཀྱི་རྒྱལ་པོ་ཆེན་པོ་ཞེས་པའི་གཞུང་དེའི་ལེའུ་དང་པོ་ནས་བཞི་པ་བར་གྱི་ངོ་སྤྲོད་མདོར་བསྡུས་ཤིག་བསྟན་ཟིན། འདོན་ཐེངས་འདིར་སྔ་མའི་འཕྲོ་མཐུད་དེ་ལེའུ་ལྷག་མ་རྣམས་སུ་གསལ་བའི་བརྗོད་བྱའི་ངོ་སྤྲོད་འདིར་བཀོད་ཡོད།

ཚེ་གཅིག་ལ་སངས་རྒྱས་འཐོབ་ཅེས་པའི་བཞེད་དོན་ལ་དཔྱད་ཞིབ། ༡༧ - ༢༦

ནང་པའི་ཆོས་ལུགས་ལྟར་ན་འཐོབ་བྱ་མཐར་ཐུག་ནི་སངས་རྒྱས་སམ་མྱང་འདས་ཀྱི་གོ་འཕང་དེ་ཡིན། ཕར་ཕྱིན་ཐེག་པའི་ལུགས་ལ་དེ་ལྟ་བུའི་གོ་འཕང་དེ་ཐོབ་པར་བསྐལ་པ་གྲངས་མེད་མང་པོའི་བར་ཚོགས་བསགས་དགོས་ཤིང་དེ་རྫོགས་ན་འབྲས་བུ་དེ་མངོན་དུ་གྱུར་ཞིང་དེ་ཉིད་ནང་པའི་སྔགས་ཀྱི་ཐེག་པར་ནི་ཚེ་གཅིག་གམ་ལུས་རྟེན་འདི་ཉིད་ལ་ཐོབ་ཐུབ་པར་གསུངས་ཡོད་པས། ཆེད་

རྩོམ་འདིའི་ནང་ནང་པའི་རྒྱུད་གཞུང་དུ་གསལ་བའི་ཚེ་གཅིག་ཉིད་ལ་ཞེས་པའི་བཞེད་དོན་ལ་དཔྱད་ཞིབ་བཀོད་ཡོད། དེའི་དགོངས་དོན་ནང་པའི་རྒྱུད་གཞུང་རྣམས་སུ་མིའི་སྐྱེ་བ་གཅིག་ཉིད་ལ་ཞེས་པ་ཡིན་པ་ལས། གཞན་ལྷ་ལ་སོགས་པའི་འགྲོ་བ་རྣམས་ཀྱི་སྐྱེ་བའམ་ཚེ་གཅིག་གི་དོན་ནི་མིན་ནོ།། ཚེ་གཅིག་ཉིད་ལ་ཞེས་པའི་གོ་དོན་གཞན་ཡང་ཡོད་དེ། འཐོབ་བྱ་སངས་རྒྱས་ཀྱི་གོ་འཕང་དེ་སྒྲུབ་པ་པོས་མི་ཚེ་གཅིག་ནས་བཟུང་ཚེ་བདུན་ནམ་བཅུ་དྲུག་བར་ལ་ཐོབ་པར་བྱེད་པ་ལ་ཡང་གོ་ཆོག་ཅིང་། སངས་རྒྱས་ཀྱི་གོ་འཕང་འཐོབ་རྒྱུ་དེ་ཡང་གཙོ་བོ་སྒྲུབ་པ་པོའི་དབང་པོ་རྣོ་རྟུལ་ལ་རགས་ལས་པ་ཡིན་ནོ།།

བདེ་བ་ཅན་དུ་སྐྱེ་བ་འདཛིན་པའི་སྨོན་ལམ་ཞིང་མཆོག་སྒོ་འབྱེད། ༢༧ - ༣༦

རྗེ་ཙོང་ཁ་པ་ཆེན་པོས་མཛད་པའི་གྲགས་ཆེ་ཞིང་བྱིན་རླབས་ཀྱི་མཚན་ཁ་ཤིན་ཏུ་ཆེ་བའི་བདེ་སྨོན་བསྡུས་པ་འདི་རྗེ་ཉིད་ཀྱིས་མཛད་པའི་བདེ་བ་ཅན་དུ་སྐྱེ་བ་འདཛིན་པའི་སྨོན་ལམ་ཞིང་མཆོག་སྒོ་འབྱེད་ཅེས་བྱ་བའི་གཞུང་རྒྱས་པ་དེའི་ཆ་ཤས་གོང་འོག་ཅི་རིགས་ལས་ནུར་འདོན་མཛད་པ་ཞིག་སྟེ། དེ་ཡང་ལྷ་ལྡན་སྨོན་ལམ་ཆེན་མོའི་འདོན་ཆོག་ཁྲིགས་སུ་བསྡེབས་པའི་ཚེ་དམིགས་བསལ་གྱི་དགོས་གལ་གཟིགས་ནས་རྗེ་ཉིད་ཀྱིས་གཞུང་རྒྱས་པ་དེ་ལས་དངོས་སུ་ནུར་འདོན་གྱིས་གཏན་འབེབས་མཛད་པ་ཞིག་ཡིན།

གཞུང་དེར་རྒྱལ་བ་འོད་དཔག་མེད་ཀྱི་ཞིང་ཁམས་བདེ་བ་ཅན་གྱི་སྣོད་བཅུད་ཀྱི་བཀོད་པ་དང་། དེ་དག་གི་ཡོན་ཏན་བསམ་གྱིས་མི་ཁྱབ་པ་དག་རྒྱས་པར་བསྟན་པའི་སྒོ་ནས་བླ་ན་མེད་པའི་ཞིང་དེར་མྱུར་དུ་སྐྱེ་བ་སོགས་ཀྱི་ཕྱིར་འདུན་པ་དྲག་པོས་སྨོན་པའི་གནས་ཁྱད་པར་ཅན་སུམ་ཅུ་སོ་བཞིའི་སྒོ་ནས་སྨོན་ལམ་འདེབས་ཚུལ་སྐོར་བཅས་བསྟན་ཡོད། སྐབས་འབྲེལ་གྱི་གཞུང་བསྡུས་པ་འདིར་སྨོན་ལམ་འདེབས་ཚུལ་གྱི་སྐོར་རྣམས་གཙོ་བོར་བསྟན་པར་མཛད་ཡོད།

གཞུང་འདི་དང་རྒྱལ་བ་བྱམས་པ་མགོན་པོའི་བསྟོད་པ་རིན་པོ་ཆེ་གསལ་བའི་སྒྲོན་མེ་གཉིས་ཐོག་མར་རྩོམ་དགོས་སྐོར་ཡང་རྗེ་བཙུན་འཇམ་དཔལ་དབྱངས་ཀྱི་གསུང་གིས་དངོས་སུ་བསྐུལ་བར

མ་ཟད་དོན་གྱི་ངོ་བོ་དང་གོ་རིམ་སོགས་ཀྱང་ཇེ་བཙུན་གྱིས་གསུངས་པ་ལྟར་ཇེ་རིན་པོ་ཆེས་ཚིག་སྦྱོར་ཚུལ་ལ་མཁས་པའི་ངག་གི་དཔལ་ཕུན་སུམ་ཚོགས་པའི་སྒོ་ནས་བརྩམས་པར་མཛད་པ་ཞིག་ཡིན། ད་ལམ་འདིར་གཞུང་འདི་ཧིན་སྐད་ཐོག་ཕབ་བསྒྱུར་དང་འབྲེལ་ཉམས་ཞིབ་ཀྱི་ལམ་སྲོལ་དང་མཐུན་པའི་ངོ་སྤྲོད་མདོར་བསྡུས་ཀྱིས་བརྒྱན་ཏེ་ རྡེ༔དུས་དེབ་ནང་འདོན་སྤེལ་ཞུས་པ་དགོས།།

ནང་པའི་རྒྱུད་གཞུང་དང་འབྲེལ་བའི་གཞུང་ཚིག་གི་ཆ་ཤས་ལ་མཚུངས་བསྡུར་དང་མཆན་བཀོད་འགྲེལ་བརྗོད། ༣༧ - ༨༨

ཆེད་རྩོམ་འདིའི་ནང་ནང་པའི་རྒྱུད་གཞུང་ཁག་ཏུ་གསལ་བའི་གཞུང་གི་ཆ་ཤས་རེ་ཟུང་གི་འགྱུར་དང་དཔེར་མ་མི་འདྲ་བའི་ཁྱད་པར་དང་དཀའ་ཚོགས་བཅས་ཀྱི་སྐོར་ལ་གསལ་བཤད་བྱས་ཡོད། དེ་ཡང་། ཀྱཻ་རྡོར་བརྟག་པ་གཉིས་པའི་ལེའུ་གསུམ་པའི་ཤློཀ་ལྔ་བཅུ་ང་བཞི་པ་དང་། སྨྲྀཏིཛྙཱ་ཡིས་ཞུས་བསྒྲིགས་བྱས་པའི་གསང་འདུས་ལེའུ་བཞི་པའི་ནང་ཡོད་མི་གཡོ་བའི་ཕྲེང་བའི་སྔགས་ཀྱི་སྐོར་ཐོག་གྲངས་དྲུག་ཅུ་རེ་ལྔ་པར་གསལ་བ་དེ་དང་། དབང་མདོར་བསྟན་གྱི་འགྲེལ་པའི་མཆོད་བརྗོད་བཅས་ཀྱི་ཤིང་ལོའི་ཐོག་བྲིས་པའི་ལག་བྲིས་རྩ་བའི་མ་དཔེ་ལས་ཐོབ་པ་དང་། དེ་བཞིན་རྒྱུད་གཞུང་ཞུས་བསྒྲིགས་བྱས་ཟིན་ཅིང་ཡོངས་གྲགས་སུ་འདོད་པའི་མ་དཔེ་རྣམས་དང་བོད་འགྱུར་གྱི་གཞུང་དབར་མཚུངས་བསྡུར་ཉམས་ཞིབ་གང་ཐུབ་བྱས་ནས། གང་འོས་ཞིང་འཚམས་ལ་རན་ཞིང་སྐབས་སུ་བབ་ཚབ་ཆེ་བའི་དཔར་མ་ཞིག་འདིར་བཀོད་ཐུབ་རྒྱུའི་འབད་བརྩོན་གང་ཡོད་བྱས་ཡོད།

སྦྱོར་བའི་སྙིང་པོའི་རྒྱུད་དུ་གསལ་བའི་རབ་བསྡུགས་སམ་ཨོཾ་ཡིག ༨༩ - ༩༦

སྦྱོར་བའི་སྙིང་པོའི་རྒྱུད་ཀྱི་མཛད་པ་པོ་ནི་སློབ་དཔོན་བདེ་བྱེད་ཞེས་པ་དེ་ཡིན། སློབ་དཔོན་འདི་ནི་དཔལ་རིག་མའི་བསྙེན་པ་སྒྲུབ་མཁན་ཆེན་པོ་ཞིག་དང་གྲུབ་ཐོབ་ཆེན་པོ་ཞིག་ཡིན། རྒྱུད་དེའི་ལེའུ་བཅུ་དགུ་པའི་ནང་རབ་བསྡུགས་སམ་ཨོཾ་ཡིག་གི་བརླས་པ། བསྙེན་སྒྲུབ། མཆོད་པའི་ཆོ་ག་དང་འབྲས་བུ་ཐོབ་ཚུལ་སོགས་ཀྱི་སྐོར་ལ་རྒྱས་པར་འགྲེལ་བརྗོད་མཛད་ཡོད། ཨོཾ་ཡིག་དེ་ནི་ཨ

དང་ཨུ་དང་མ་གསུམ་ལས་གྲུབ་ཅིང་ཨོཾ་ཞེས་པའི་མིང་འདི་ཉིད་དབང་ཕྱུག་དམ་པའི་མིང་མཆོག་ཏུ་གྱུར་པ་ཞིག་ཡིན། རབ་བསྟགས་སམ་ཨོཾ་ཞེས་པ་ནི་རིག་བྱེད་ཀྱི་ཐོག་མ་ཡིན་པས་རིག་བྱེད་ཀྱི་སྔགས་ཚང་མའི་ཐོག་མ་ཉིད་དུ་སྦྱོར་གྱི་ཡོད། འདི་ཉིད་སྐྱེས་གནས་ཡིན་ལ། ཚངས་པའང་ཡིན་ལ་ཐམས་ཅད་ཀྱི་རྒྱུ་ཡིན། རབ་བསྟགས་སམ་ཨོཾ་ཡིག་གི་མཆོད་པ་དང་བཟླས་པ་ལ་སོགས་ཆོ་ག་བཞིན་དུ་བྱས་ན་རྣལ་འབྱོར་པའམ་སྒྲུབ་པ་པོ་ལ་དངོས་གྲུབ་ཁྱད་པར་ཅན་འཐོབ་པར་འགྱུར་རོ།། དེ་ནི་འབྱོར་པ་བརྒྱད་ཀྱི་མིང་གི་སྒོ་ནས་ཀུང་གྲགས་ཆེའོ།། དངོས་གྲུབ་བརྒྱད་པོ་ཐོབ་པའི་རྗེས་སུ་རྣལ་འབྱོར་པ་འཁོར་བའི་སྐྱེ་བ་ལས་གྲོལ་ནས་སྟེ་མའི་དགེ་བའི་ལས་ཀྱི་རྣམ་སྨིན་མ་ཟད་ཀྱི་བར་རྟག་ཏུ་བདེ་བའི་རོ་མྱོང་ཞིང་འཁོར་བར་གནས་པར་བྱེད་དོ།། དེ་མཐར་འཁོར་བའི་སྐྱེ་བ་ལས་གྲོལ་ནས་ཁྱབ་འཇུག་གི་གོ་འཕང་མཆོག་ཐོབ་པར་བྱེད་དོ།། དེ་ནི་མིའི་མི་ཚེའི་འཐོབ་བྱ་མཐར་ཐུག་པ་ཡིན་ནོ།།

ཆེས་དཀོན་པའི་གསུང་རབ་ཁག་གི་ཟུ་བའི་མ་དཔེ། ༧༩ - ༨༢

དུས་རེབ་བཞི་བཅུ་ཞེ་གཅིག་པའི་ནང་འགོ་བརྗོད་འདིའི་འོག་གལ་ཆེའི་གསུང་རབ་ལག་བྲིས་བརྒྱད་ཅུ་གྱ་བཞིའི་མཚན་ཐོའི་ངོ་སྤྲོད་བཀོད་ཟིན་ཅིང་། ད་ལན་གྱི་འདོན་ཐེངས་འདིར་སྔར་བཀོད་པ་ལས་གཞན་པའི་གསུང་རབ་ལག་བྲིས་དགུ་བཅུ་གོ་བཞིའི་དཔེ་ཐོའི་ངོ་སྤྲོད་བྱས་པ་བཀོད་ཡོད།

སྐྱུང་བའི་ལྷ་མོ་ལྟའི་རྣམ་པ་ཐ་དད་པའི་སྐོར། ༨༣ - ༩༥

ཆེད་རྩོམ་འདིའི་ནང་སྐྱུང་བའི་ལྷ་མོ་ལྟ་སྟེ་སོ་སོར་འབྲང་མ་ཆེན་མོ། རྨ་བྱ་ཆེན་མོ། སྟོང་ཆེན་མོ་རབ་ཏུ་འཇོམས་མ། བསིལ་བའི་ཚལ་ཆེན་མོ་དང་གསང་སྔགས་ཆེན་མོའི་རྗེས་སུ་འཛིན་མ་བཅས་ཀྱི་རྣམ་པ་མི་འདྲ་བའི་ཚུལ་ལ་གསལ་བཤད་ བྱས་ཡོད། ལྷ་མོ་ལྔ་པོ་རྣམས་ཀྱི་གཟུངས་སྔགས་ཀྱི་བཟླས་པ་བྱས་པས་ནད་ཐམས་ཅད་ཞི་བ་དང་། འཇིགས་པ་དང་གདུག་རྩུབ་ཅན་གྱི་སེམས་ལྡན་སོགས་ཀྱི་གནོད་པ་ལས་ཐར་བར་བྱེད་པ་ཡིན། གཟུངས་སྔགས་འདི་རྣམས་ཀྱི་བཟླས་པ་བྱས་པ་ལས་ནོར་ལོངས་སྤྱོད་དང་ཕུན་སུམ་ཚོགས་པ་ཡང་འཕེལ་བར་བྱེད་དོ།།

ནང་ཆོས་དང་དེ་ལས་གཞན་པའི་ཆོས་ལུགས་རྣམས་སུ་བསྟན་པའི་སྒོམ་པའི་ངོ་བོ། ༧༣ - ༧༨

ཀྵི༔འདིར་ཐེངས་སྔ་མ་རྣམས་སུ་ནང་པ་དང་གཅེར་བུ་པ། རིག་བྱེད་པའི་སྒོམ་པའི་ནང་ཚན་དུ་ཁྱབ་འཇུག་པ་དང་ཞི་བ་པ་དང་། རིག་བྱེད་པའི་སྒོམ་པའི་ནང་ཚན་ནུས་མ་པ་དང་། སོར་སྒོམ་ཚོགས་ཀྱི་རིམ་པ་རྣམས་བསྟན་ཟིན། འདིར་ཐེངས་འདིར་རིག་བྱེད་པའི་སྒོམ་པའི་ནང་ཚན་ལས་ཚོགས་བདག་པའི་སྒོམ་པའི་ཚོ་གའི་སྐོར་མདོར་བསྡུས་ཏེ་བསྟན་ཡོད།

བུ་སྟོན་རིན་པོ་ཆེས་མཛད་པའི་རྒྱུད་སྡེ་སྤྱིའི་རྣམ་གཞག་བསྡུས་པ། ༧༩ - ༡༠༨

ཀྵི༔དུས་དེབ་ཀྱི་འདོན་ཐེངས་སྔ་མ་རྣམས་སུ་བོད་ཀྱི་མཁས་དབང་བུ་སྟོན་རིན་པོ་ཆེས་མཛད་པའི་རྒྱུད་སྡེ་སྤྱིའི་རྣམ་གཞག་བསྡུས་པ་རྒྱུད་སྡེ་རིན་པོ་ཆེའི་གཏེར་སྒོ་འབྱེད་པའི་ལྡེ་མིག་ཅེས་པ་ཧིན་སྐད་ཐོག་ཕབ་བསྒྱུར་ཞུས་པའི་རིམ་པ་ལས་འཕྲོས་ཏེ། འདོན་ཐེངས་འདིར་རྣལ་འབྱོར་བླ་མེད་རྒྱུད་ཀྱི་དོན་གཏན་ལ་ཕབ་པ་ཞེས་པར་ནང་གསེས་ཀྱི་བརྗོད་གཞིའི་དབྱེ་བ་བཞི་ཡོད་པ་ལས། དྲང་བའི་དོན་དུ་ཐབས་དང་ཤེས་རབ་དང་གཉིས་མེད་ཀྱི་རྒྱུད་གསུམ་གྱི་དབྱེ་བ་བསྟན་པ་དང་། ངེས་དོན་དུ་ཐམས་ཅད་གཉིས་མེད་ཀྱི་རྒྱུད་དུ་བསྟན་པ་ཞེས་པའི་སྐོར་རྣམས་ཧིན་སྐད་ཐོག་ཕབ་བསྒྱུར་ཞུས་ཏེ་འདིར་བཀོད་ཡོད།

དཔལ་གསང་བ་འདུས་པའི་དཀྱིལ་འཁོར་གྱི་ཆོ་ག ༡༠༩ - ༡༤༥

དཔལ་གསང་བ་འདུས་པའི་དཀྱིལ་འཁོར་གྱི་ཆོ་ག་ཞེས་པ་སློབ་དཔོན་མར་མེ་མཛད་བཟང་པོས་མཛད་པ་ཡིན། འདི་ནི་ལེགས་སྦྱར་གྱི་སྐད་ཐོག་བཞུགས་ཤིང་རྩོམ་རྩལ་གྱི་ཉམས་རྫོགས་ཤིང་ཕུན་སུམ་ཚོགས་པ་དང་ལྡན་པ་ཞིག་ཡོད། གཞུང་འདིའི་ལེགས་སྦྱར་གྱི་རྩ་བའི་མ་དཔེའི་ཆ་ཤས་ཕྲན་བུ་མ་ཚང་བ་ཞིག་ང་ཚོར་ལག་སོན་བྱུང་། འདིའི་བོད་འགྱུར་དང་མཉམ་མཚུངས་བསྡུར་བྱེད་སྐབས་གཞུང་འདིའི་ཐ་མའི་ཤློ་ཀ་བཅུ་དྲུག་ཙམ་མ་ཚང་བ་མ་གཏོགས་གཞན་ཕལ་ཆེ་བ་ཚང་ཡོད། ལེགས་སྦྱར་གྱི་རྩ་བའི་མ་དཔེའི་ཤོག་ལྷེབ་ཐ་མ་དེ་ཚང་མེད་པར་དཔོག་ཐུབ། གཞུང་གི་གལ་གནད

ལ་གཞིགས་ཏེ་འདིའི་བོད་འགྱུར་ལ་གཞི་བཅོལ་ནས་ཞུས་བསྒྲིགས་བྱས་ཏེ་དུས་དེབ་འདོན་ཐེངས་འདིའི་ནང་དཔར་བསྐྲུན་ཞུས་ཡོད། གཞུང་འདིའི་ཤོག་ལྷེབ་ཐ་མའི་སློ་ཀ་བཅུ་དྲུག་མ་ཚང་བ་རྣམས་བོད་འགྱུར་ལ་གཞི་བྱས་ནས་བསྒྱུར་གསོ་བྱས་ནས་མ་འོངས་པར་དེབ་ཀྱི་གཟུགས་སུ་ལོགས་སུ་དཔར་བསྐྲུན་ཞུ་རྒྱུ་ཡིན།

འཕགས་མ་འོད་ཟེར་ཅན་མའི་གཟུངས། ༡༤༤ - ༡༤༥

བལ་ཡུལ་ནས་ཐོབ་པའི་གཟུངས་སྔགས་ཕྱོགས་བཏུས་ནང་འཕགས་མ་འོད་ཟེར་ཅན་མའི་གཟུངས་ཞེས་པའི་མ་དཔེ་མང་པོ་ཞིག་ཐོབ་ཀྱི་ཡོད། མདོའི་འགྲོས་ལྟར་དུ་གསལ་བའི་གཟུངས་འདི་ནི་གཟུངས་སྔགས་ཕྱོགས་བཏུས་ (ཨང་གྲངས་ ༣།༤༥༦) ལས་བླངས་པ་ཞིག་ཡིན། བོད་འགྱུར་དཔར་མ་ལ་བརྟེན་ནས་ཞུས་བསྒྲིགས་ཀྱིས་འདོན་ཐེངས་འདིར་དཔར་བསྐྲུན་ཞུས་པའོ། །

•••

CENTRAL INSTITUTE OF HIGHER TIBETAN STUDIES
SARNATH, VARANASI

List of Books Published under Rare Buddhist Texts Series

1. Guhyādi-Aṣṭasiddhi Saṁgraha (1988) : Rs. 115 Hb, 90 Pb.
2. Jñānodaya Tantra (1988) : Rs. 15Pb.
3. Durlabha Grantha Paricaya Vol. I (1990) : Rs. 55Hb.
4. Durlabha Granthoṁ kī Ādhāra Sāmagrī, Vol. I (1990) : Rs. 40Hb.
5. Bauddha Tantra Kośa, Vol. I (1990) : Rs. 45Hb, Rs. 40Pb.
6. Lupta Bauddha Vacana Saṁgraha, Vol. I (1990) : Rs. 40Hb, Rs. 30Pb.
7. Vasantatilaka of Kṛṣṇapāda with commentary (1990) :
   Rs. 95Hb, Rs. 70Pb.
8. Ḍākinījālasaṁvararahasya (1990) : Rs. 15Pb.
9. Kṛṣṇayamāri Tantra with Ratnāvalīpañjikā of Kumāracandra (1992) : Rs. 150Hb, Rs. 100Pb.
10. Mahāmāyā Tantra with Guṇavatīṭīkā of Ratnākaraśānti (1992) : Rs. 70Hb, Rs. 50Pb.
11. Abhisamayamañjarī of Śubhākaragupta (1993) : Rs. 35Pb.
12. Vimalaprabhāṭīkā, Vol. II (1994) : Rs. 110Hb, Rs. 75Pb.
13. Vimalaprabhāṭīkā, Vol. III (1994) : Rs. 110Hb, Rs. 70Pb.
14. Bauddha Tantra Kośa, Vol. II (1997) : Rs. 100Hb, Rs. 85Pb.
15. Sūtratantrodbhava-Katipaya-Dharaṇīmantrāḥ (1997) : Rs. 75Hb, Rs. 55Pb.
16. Adhyātmasāraśataka (1997) : Rs. 40Pb.

17. Durlabha Bauddha Grantha Paricaya, Vol. II (1997) : Rs. 150Hb, Rs. 125Pb.
18. Durlabha Granthoṁ kī Ādhāra Sāmagrī, Vol. II (1997) : Rs. 180Hb, Rs. 150Pb.
19. Bauddha Laghu Grantha Saṁgraha (1997) : Rs. 110Hb, Rs. 80Pb.
20. Siddhaikavīramahātantra (1998) : Rs. 90Hb, Rs. 60Pb.
21. Yoginīsañcāratantra with Ṭīkā (1998) : Rs. 170Hb, Rs. 140Pb.
22. Caryāmelāpakapradīpa of Āryadeva (2000) : Rs. 160Hb, Rs. 110Pb.
23. Tattvajñānasaṁsiddhi with Commentary (2000) : Rs. 135 Hb, Rs. 100Pb.
24. Kurukullākalpa (2001) : Rs. 100Hb, Rs. 65Pb.
25. Lupta-Bauddha-Vacana-Saṃgraha, Vol. II (2001) : Rs. 110Hb., Rs. 70Pb.
26. Śrīcakrasaṁvaratantra with Vivṛti by Bhavabhaṭṭa, Vol. I-II (2002) : Rs. 400Hb, Rs. 300 Pb (set of 2 vols.).
27. Durlabha Granthoṁ kī Ādhāra Sāmagrī, Vol. III (2004) : Rs. 230 Hb, Rs. 140 Pb.
28. Bauddha Tantra Vāṅmaya, Vol. 1 (2006) : Rs. 145Hb, Rs. 95Pb.
29. Sampādana ke Siddhānta aur Upādāna : (Proceedings of Workshop) (1990) : Rs. 150Hb, Rs. 100Pb.
30. Bhāratīya Tantraśāstra (Proceedings of Workshop) (1995) : Rs. 380Hb, Rs. 220Pb.
31. ***Dhīḥ :*** Complete set (Vol. I to XLII) : Total Rs. 3009.00

●●●